साहित्योद्यान

सम्पादक—

पण्डित श्रीनिवास चतुर्वेदी, एम० ए०

प्रोफ़ेसर आफ़ हिन्दी एण्ड संस्कृत, होल्कर कालेज, इन्दौर
भूतपूर्व हैडमास्टर, नानकचन्द हाई स्कूल, मेरठ

प्रकाशक—

साहित्य कार्यालय,

आगरा।

मूल्य १)

सन् १९३६ ई०

साहित्योद्यान

सम्पादक—

पण्डित श्रीनिवास चतुर्वेदी, एम० ए०

प्रोफ़ेसर आफ़ हिन्दी एण्ड संस्कृत, होल्कर कालेज, इन्दौर
भूतपूर्व हैडमास्टर, नानकचन्द हाई स्कूल, मेरठ

प्रकाशक—

साहित्य कार्यालय,

आगरा।

सन् १९३६ ई०

मूल्य १)

प्रकाशक—साहित्य कार्यालय, आगरा।

मुद्रक—राधारमन अग्रवाल,

मौडर्न प्रेस, नमक मन्डी, आगरा।

विषय-सूची

साहित्योद्यान

पाठ १

ब्रह्मचर्य

ब्रह्मचर्य-वैभव

उन्नतियों का सार धर्म का रथ है न्यारा।
सत्कर्मों का पुण्य जाति का जीवन प्यारा॥
सज्जनता का मूल फूल है वैदिक वन का।
सब सुख का है धाम ग्राम है सद्‌गुण गण का॥

ब्रह्मचर्य-व्रत विश्व में, कल्पवृक्ष आधार है।
इसकी महिमा से सदा, चलता सब व्यापार है॥

ब्रह्मचर्य से दिव्य भावनायें होती हैं।
ब्रह्मचर्य से दीर्घ योग्यतायें होती हैं॥
ब्रह्मचर्य से ज्ञान और बल नर हैं पाते।
ब्रह्मचर्य से शान्ति-मोक्ष को हैं अपनाते॥

ऋषियों के उपदेश को, कभी न भाई भूलिये।
रक्षा करके वीर्य की, अति स्वतंत्र हो फूलिये॥

ब्रह्मचर्य की व्याख्या

ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध में कुछ विचार प्रकट करने से पहले, यह समझा देना अत्यन्त आवश्यक है कि ब्रह्मचर्य है क्या पदार्थ ? जब तक इसके अर्थ नहीं बताये जायँगे, तब तक उसके गूढ़ भावों के समझने और समझाने में, पाठक और लेखक—दोनों को समान रूप से असुविधा होगी।

एक बात यह भी है कि जो वस्तु व्याख्या द्वारा पहले-पहल स्पष्ट नहीं कर दी जाती, उसके विषय में किये गये विचार भली भाँति हृदयङ्गम नहीं किये जा सकते। अतः ब्रह्मचर्य किसे कहते हैं यह बतलाना होगा।

वास्तव में 'ब्रह्मचर्य' एक शब्द नहीं, दो शब्दों के योग से बना है। एक 'ब्रह्म' दूसरा 'चर्य'। वैसे तो ब्रह्म और चर्य—इन दोनों शब्दों के भिन्न-भिन्न स्थानों पर अनेक अर्थ होते हैं। हम पाठकों के हितार्थ कुछ को नीचे लिखे देते हैं:—

'ब्रह्म' इस शब्द से ईश्वर, वेद, वीर्य, मोक्ष, धर्म, सूर्य, ब्राह्मण, गुरु, सुख, योग, सत्य, आत्मा, मन्त्र, अन्न, द्रव्य, जल, महत्त्व, साधन और ज्ञान आदि का और "चर्य" शब्द से चिन्तन, अध्ययन, रक्षण, विवेचन, सेवा, नियम, उपाय, हित, ध्येय, प्रगति, प्रसार, संयम, साधन और कार्य आदि का बोध होता है।

ब्रह्मचर्य बहुत प्राचीन एवं प्रभावोत्पादक शब्द है। इसके बहुत से अर्थ हो सकते हैं, जिन्हें हम ऊपर दे चुके हैं, पर हमारे वैदिक साहित्य में इसके तीन ही प्रधान अर्थ होते हैं। हमने जहाँ कहीं देखा है, इन्हीं तीनों अर्थों को ध्यान में रख कर, इस शब्द का प्रायः व्यवहार हुआ है। प्रायः इन्हीं अर्थों को लक्ष्य में रख कर हमारा यह लेख भी लिखा जा रहा है। अतएव हम उन्हें नीचे पृथक् पृथक् स्पष्ट किये देते हैं:—

'ब्रह्म' शब्द वीर्य, वेद और ईश्वर का वाचक है और 'चर्य' रक्षण, अध्ययन, और चिन्तन का द्योतक है। इस प्रकार ब्रह्मचर्य के ये तीन प्रधान अर्थ समझे जाने चाहिये—१ वीर्य-रक्षण, २ वेदाध्ययन, ३ ईश्वर-चिन्तन। पृथक्-पृथक् तो तीन अर्थ हुए, पर वे तीनों ही एक मूलभूत ब्रह्मचर्य में सन्निहित हैं।

'ब्रह्मचर्य' का पहला अर्थ हम ने 'वीर्य-रक्षण' किया है। यह अर्थ प्राचीन समय से जनता में रूढ़ि को प्राप्त हो गया है। ब्रह्मचर्य का नाम लेते ही लोगों के हृदय में वीर्य-रक्षण का भाव उठता है। यह साधन-रूप से अब भी संसार में प्रतिष्ठित है।

'ब्रह्मचर्य' का दूसरा अर्थ हमने 'वेदाध्ययन' किया है। यह अर्थ वीर्य-रक्षण के साथ ही प्रचलित था। ब्रह्मचर्य की अवस्था में वेदाध्ययन एक आवश्यक कार्य समझा जाता था। अब भी विद्योपार्जन की प्रणाली किसी न किसी रूप में सर्वत्र प्रचलित है।

'ब्रह्मचर्य' का तीसरा अर्थ हमने 'ईश्वर-चिन्तन' किया है। यह भी प्राचीनकाल में उद्देश्य-रूप से माना जाता था। वीर्य-रक्षण और वेदाध्ययन की परिपाटी के साथ ही ईश्वर-चिन्तन भी होता था। अब भी लोग देवाराधन करते हैं।

ब्रह्मचर्य में वीर्य-रक्षण, वेदाध्ययन और ईश्वर-चिन्तन तीनों बातें सिद्ध होती हैं। अर्थात् एक साथ वीर्य-रक्षण करने, वेदाध्ययन करने तथा ईश्वर-चिन्तन करने का नाम ब्रह्मचर्य है। इन्हीं तीन महत्त्वशाली प्रयोजनों के एकत्र किये हुए भाव से 'ब्रह्मचर्य' शब्द की संसार में उत्पत्ति हुई है।

अब हम ऊपर कहे गये तीन प्रयोजनों के समूह रूप 'ब्रह्मचर्य को आगे बतलावेंगे। हमने जिन आधारों पर ऊपर के अर्थ किये हैं, वे भी नीचे लिखे जाते हैं—

कठोपनिषत्—

"तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म, तदेवामृतमश्नुते ।"

अर्थात् वही वीर्य है, वही परमात्मा है और वही अमृत कहलाता है।

यजुर्वेद—

"तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म, आपः स प्रजापतिः ।"

अर्थात् वही वीर्य है, वही ईश्वर है, वही जीवन है और वही सृष्टिकर्ता है।

ऐतरेयोपनिषत्—

"प्रज्ञानं वै ब्रह्म ।"

अर्थात् वेद साक्षात् परमेश्वर है।

मनुस्मृति—

"ब्रह्माभ्यासेन चाजस्रमनन्तसुखमश्नुते ।"

अर्थात् वेद के सदैव अध्ययन करने से अपरिमित सुख मिलता है।

कैवल्योपनिषत्—

"यत्परब्रह्म सर्वात्मा विश्वस्यायतनं महत् ।"

अर्थात् जो परब्रह्म है, सर्वात्मा है और संसार का श्रेष्ठ धाम है।

वेदान्तदर्शन—

"अथातो ब्रह्मजिज्ञासा ।"

अर्थात् अब हम परमात्म-तत्त्व की विवेचना करते हैं।

ऊपर के अवतरणों से पाठक समझ गये होंगे कि ब्रह्म से वीर्य, वेद और ईश्वर का बोध होता है। ब्रह्मचर्य-व्याख्या—

कहने का अभिप्राय यह है कि वीर्य, वेद और ईश्वर का रक्षण, अध्ययन और चिन्तवन ही ब्रह्मचर्य है। इन तीनों में से एक भी कम हुआ तो ब्रह्मचर्य की सम्पूर्णता नहीं प्राप्त हो सकती।

दो आदर्श ब्रह्मचारी

"ब्रह्मचारी सिञ्चति सोनोरेत:।
पृथिव्यां तेन जीवन्ति प्रदिश्चतस्त्र: ॥"

(अथर्ववेद)

ब्रह्मचारी अपने सद्ज्ञान, पराक्रम, सिद्धान्त, सदाचार तथा उत्तम गुणों को बड़े छोटे का विचार न कर, सब में फैलाता है। इससे चारों ओर की जनता में नवजीवन का संचार होता है। हमारे पाठक इस बात को भली भाँति समझ चुके हैं कि ब्रह्मचर्य जैसे उच्च तथा सर्वोपकारी विज्ञान का पहले पहल इसी देश में आविष्कार हुआ था। यही कारण है कि अन्य देशों की अपेक्षा यहीं इसका सुधार और प्रचार विशेष रूप से हुआ।

हमारे मत से भूमण्डल के इतिहास में जितने अधिक उदाहरण ब्रह्मचर्य के यहाँ मिल सकते हैं, उतने और कहीं मिलने सम्भव नहीं।

इस देश में अनेक पुरुषों ने ब्रह्मचर्य-पालन की चेष्टा की है। उनमें से कुछ लोग अपने व्रत से विचलित भी हो गये, बहुतों को सफलता भी मिली, पर हम उन दो आदर्श ब्रह्मचारियों का परिचय करा देना चाहते हैं, जो वास्तव में अद्वितीय हुए हैं। वे अपने उसी ब्रह्मचर्य के प्रभाव से आज भी जनता के श्रद्धा-भाजन हो रहे हैं। समस्त भारत के आर्य-साहित्य में उन दोनों महानुभावों का व्यक्तिगत जीवन हमें अमूल्य शिक्षा प्रदान करता है।

इनमें से पहले ब्रह्मचारी का नाम जगद्विख्यात महावीर हनूमान् है। इनकी कथा रामायण में मिलती है। ये अपने जीवन पर्यन्त अक्षुण्ण ब्रह्मचारी रहे। इन्होंने अपने ब्रह्मचर्य का यहाँ तक पालन किया कि स्वप्न में भी इनका वीर्य कभी स्खलित न होने पाया। ब्रह्मचर्य के प्रभाव से इनका शरीर वज्र के समान हृष्ट-पुष्ट हो गया था। ये महावीर्य के प्रभाव से कठिन से कठिन कार्य कर सकते थे। इनके ब्रह्मचर्य का उद्देश्य केवल सेवा-कार्य था। इन्होंने बली से बली राक्षसों का मद चूर्ण कर डाला। अनुकरणीय स्वामिभक्ति, असम पराक्रम, तेजस्वी स्वभाव और पवित्र अन्तःकरण के लिये भी ये परम प्रसिद्ध थे। इन गुणों से युक्त होने पर भी, वे बहुत बड़े विद्वान् और मेधावी थे। वक्तृत्वकला से दूसरों का हृदय अपनी ओर भली भाँति खींचना जानते थे।

एक स्थान पर किष्किन्धा-काण्ड में श्री रामचन्द्र भगवान् ने स्वयं अपने मुख से हनूमान् की विद्वत्ता और वाक्-चातुरी की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। वह यों है:—

महाबली बालि ने अपने भाई सुग्रीव को मार-पीट कर घर से निकाल दिया था। वे ऋष्यमूक पर्वत पर जाकर इन्हीं हनूमान् के साथ रहने लगे थे। एक दिन श्रीरामजी जानकीजी को खोजते हुए लक्ष्मण के साथ उधर आ निकले। सुग्रीव के मन में सन्देह और भय हुआ। उसने इन्हें रहस्य लेने के लिये भेजा। हनूमान्जी विप्र रूप धर कर श्रीराम और लक्ष्मण से मिले। उनके भाषण से प्रसन्न होकर श्रीराम ने लक्ष्मण से कहा:—

"तमभ्यभाष सौमित्रे! सुग्रीव-सचिवं कपिम्।
वाक्यज्ञं मधुरैर्वाक्यैः, स्नेहयुक्तमरिन्दमम्॥

नानृग्वेदविनीतस्य, नायजुर्वेदधारिणः ।
नासामवेदविदुषः, शक्यमेवं विभाषितुम् ॥

नूनं व्याकरणं कृत्स्नमनेन बहुधा श्रुतम् ।
बहुव्याहरतानेन, न किञ्चिदपशब्दितम् ॥

न मुखे नेत्रयोश्चापि, ललाटे च भ्रुवोस्तथा ।
अन्येष्वपि च सर्वेषु, दोषः संविदितः क्वचित् ॥

अविस्तरमसन्दिग्धमविलम्बितमव्ययम् ।
उरःस्थं कण्ठगे वाक्यं, वर्त्तते मध्यमस्वरम् ॥

संस्कार-क्रम-सम्पन्नामद्भुतामविलम्बिताम ।
उच्चारयति कल्याणीं, वाचं हृदय-हर्षिणीम् ॥"

(वाल्मीकि-रामायण)

हे लक्ष्मण ! मधुर वाक्य से स्नेह-युक्त सुग्रीव के वाणी-विशारद सचिव हनूमान् से भाषण कर, यह ज्ञात हुआ कि ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद के न जानने वाले इस प्रकार का भाषण नहीं कर सकते। अर्थात ये वेद-शास्त्रज्ञ जान पड़ते हैं। निश्चय ही इन्होंने व्याकरण का अच्छा अध्ययन किया है। कारण यह है कि इन्होंने इतना अधिक बोलने पर भी एक अशुद्धि नहीं की। मुख में, नेत्रों में और भ्रू-भाग में तथा अन्य किसी भी अवयव में इनके कहीं भी दोष नहीं दिखलाई पड़ा। सूक्ष्म रीति से स्पष्ट-स्पष्ट, अस्खलित, श्रुति-मधुर, न तो बहुत धीरे-धीरे और न बहुत ज़ोर-ज़ोर से, अर्थात् मध्यम स्वर में इन्होंने भाषण किया है। सुसंस्कृत, नियमयुक्त, अद्भुत प्रकार से प्रिय तथा हृदय को हर्षित करने वाली वाणी इनके मुख से उच्चरित हुई है।

अब हम इनकी दृढ़प्रतिज्ञता तथा पराक्रम-शीलता का परिचय इन्हीं के कहे हुए वाक्यों से कराते हैं।

श्रीजानकी को खोजते हुए वानर लोग समुद्र-तीर पर पहुँचे। सबने समुद्र लाँघने के लिये अपने-अपने बल का वर्णन किया। जामवन्त ने देखा कि बिना हनूमान् के काम न चलेगा। अतः उन्होंने इन्हें उत्कर्ष वचनों द्वारा उत्साहित किया। इस पर हनूमान् ने उत्तेजित होकर वानर-सेना को इस प्रकार सन्तुष्ट किया:—

"यथा राघव-निर्मुक्तः, शरः श्वसन-विक्रमः।
गच्छेत्तद्वद् गमिष्यामि, लङ्कां रावणपालिताम्॥
न हि द्रक्ष्यामि यदि तां, लङ्कायां जनकात्मजाम्।
अनेनैव हि वेगेन, गमिष्यामि सुरालयम्॥
यदि वा त्रिदिवे सीतां, न द्रक्ष्यामि कृतश्रमः।
बद्ध्वा राक्षसराजानमानयिष्यामि रावणम्॥
सर्वथा कृतकार्योऽहमेष्यामि सह सीतया।
आनयिष्यामि वा लङ्कां, समुत्पाट्य सरावणम्॥"

(वाल्मीकि-रामायण)

जिस प्रकार श्रीरामचन्द्र का चलाया हुआ बाण सन-सन करता हुआ जाता है, उसी भाँति मैं रावण के द्वारा रक्षित लङ्कापुरी में जाऊँगा। यदि मैं उस लङ्का में जानकी को न देखूँगा, तो उसी वेग से स्वर्ग में जाऊँगा। यदि मैं इतना परिश्रम करने पर भी त्रिलोक में सीता को न पा सकूँगा, तो मैं राक्षसों के राजा रावण को बाँध कर यहाँ ले आऊँगा, या तो मैं कृतकार्य होकर सीता के साथ आऊँगा अथवा लङ्का को भली भाँति नष्ट-भ्रष्ट करके रावण को साथ पकड़ कर ले आऊँगा।

पाठकों ने एक आदर्श ब्रह्मचारी का परिचय पा लिया। इनकी वाणी में कैसा तेज है? अब हम दूसरे का परिचय कराते हैं:—

दूसरे ब्रह्मचारी का नाम भीष्म पितामह है। महाभारत के चरित्रनायकों में ये प्रधान माने जाते हैं। इनका परम स्वार्थत्याग, उच्च धर्म-नीतिज्ञता, अद्भुत पराक्रम, शस्त्रास्त्र चलाने की निपुणता, युद्ध-कौशल, विपुल पाण्डित्य तथा उदार चरित्र विख्यात है।

ये भी बाल-ब्रह्मचारी थे। पहले इनका नाम 'देवव्रत' था, पर जब से इन्होंने अपने पिता के विवाह के लिये ब्रह्मचर्य की कठिन प्रतिज्ञा की तब से लोग इन्हें 'भीष्म' कहने लगे।

इस महापुरुष के उन्नत व्यक्तित्व के सम्बन्ध में एक बहुत ही प्रचलित उत्तम श्लोक है, उसे हम यहाँ देते हैं:—

"भीष्मः सर्वगुणोपेतः ब्रह्मचारी दृढ़व्रतः।
लोक-विश्रुत-कीर्तिश्च, सद्धर्माशून्महामतिः॥"

(सूक्ति)

भीष्म सर्व गुण सम्पन्न, ब्रह्मचारी, दृढ़व्रती, धर्म पालन करने वाले, बुद्धिमान् और संसार में बड़े यशस्वी पुरुष थे।

भीष्म की विमाता ने वंश-विच्छेद होता हुआ देखकर, इनको विवाह कर लेने की आज्ञा दी। महर्षि व्यास ने भी ब्रह्मचर्य छोड़ कर विवाह करने के लिये समझाया। बहुत से लोगों ने इनसे अपनी प्रतिज्ञा छोड़ने के लिये आग्रह किया; पर इस मनस्वी ने अपना प्रण नहीं छोड़ा। जब सब लोग समझा कर हार गये, तब इन्होंने अन्त में अपने विचार की अटलता जिन ओजस्वी भावों में प्रकट की उन्हें हम यहाँ उद्धृत करते हैं—

"त्यजेच्च पृथ्वी गन्धमापश्च रसमात्मनः।
ज्योतिस्तथा त्यजेद् रूपं, वायुः स्पर्शगुणं त्यजेत्॥
विक्रमं वृत्रहा जह्याद्धर्मं जह्याच्च धर्मराट्।
न त्वहं सत्यमुत्सृष्टं, व्यवसेयं कथंचनः॥"

(महाभारत)

चाहे भूमि अपना अपना गुण गन्ध छोड़ दे, जलतरलत्व त्याग दे, सूर्य अपना तेज व वायु अपना स्पर्श त्याग दे, इन्द्र पराक्रमरहित हो जाय, और धर्मराज धर्म से विमुख होकर रहें, पर मैं जिस ब्रह्मचर्य रूपी सत्य को धारण कर चुका हूँ उसे कदापि नहीं छोड़ सकता! इससे बढ़कर एक सत्यशील ब्रह्मचारी और क्या कह सकता है।

ऊपर के दो आदर्श ब्रह्मचारियों के चरित्र से परम सुख देने वाले ब्रह्मचर्य की महिमा भली भाँति प्रकट होती है। उनके समान यदि एक भी ब्रह्मचारी इस देश में हो जाय तो उद्धार होने में रञ्च-मात्र सन्देह न रहे।

अखण्ड ब्रह्मचर्य के पालन करने से ही हनूमान् का, घर-घर मूर्तियाँ स्थापित कर पूजन होता है।

इसी व्रत में सफल होने के कारण वे श्रीसीताजी के स्नेह-पात्र हुए और उन्हें यह आशीर्वाद मिला—

"अजर अमर गुणनिधि सुत होहू।
करहिं सदा रघुनायक छोहू॥"

(रामचरितमानस)

इसी सर्वोत्तम गुण के कारण श्रीरामचन्द्रजी उन्हें श्रीभरत के समान प्रिय मानते रहे। और इसी एक मात्र कारण से वे महावीर पदवी से विभूषित हुए।

अचल ब्रह्मचर्य के कारण ही भीष्म का नाम तर्पण में लिया जाता है।

इसी के कारण वे इच्छामरणी हुए और महाभारत के रणक्षेत्र में कोई भी उनका सामना न कर सका।

अतएव महत्त्व की इच्छा रखने वाले पुरुषों को चाहिये कि इन दोनों सत्पुरुषों का अनुकरण कर, वे अपने को वैसा ही बनावें।

ब्रह्मचर्य के दो बड़े आचार्य

"आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते"

(अथर्ववेद)

आचार्य अपने ब्रह्मचर्य के बल से ब्रह्मचारियों का हित करता है, अर्थात् योग्य बनाता है।

"आचार्य: परम: पिता"

(सूक्ति)

धार्मिक दृष्टि से आचार्य भी विद्यार्थी का परम पिता होता है।

प्राचीन समय में ब्रह्मचर्य के अनेक आचार्य हो गये हैं। देव लोग तो ब्रह्मचर्य-व्रत के लिए प्रधान ही माने जाते थे, पर असुर भी विद्वानों की कृपा से इस महाव्रत का माहात्म्य जानते थे। आचार्यों का यही काम था कि वे स्वयं ब्रह्मचर्य के लिये दृढ़-संकल्प रहते थे। अपने शिष्यों को भी इस का पाठ पढ़ा देते थे। इसमें महादेव भगवान् शंकर और दानव-गुरु शुक्र बहुत बड़े थे। अतएव हम इन दोनों के विषय में पृथक् पृथक् वर्णन करते हैं।

भगवान् शंकर परम योगी थे। ये 'ब्रह्मचर्य' के अधिष्ठाता और शिक्षक थे। सुर और असुर इनको प्रसन्नता के लिये, और वरदान प्राप्त करने की इच्छा से ब्रह्मचर्य का पालन करके वाञ्छित फल पाते थे।

एक बार की बात है कि ये अपने ब्रह्मचर्य-व्रत की दृढ़ता के लिए तपस्या कर रहे थे। इन्द्र ने कामदेव को इनके पास तप-भङ्ग करने के लिये भेजा। वे भी कैलास में पहुँच कर एक वृक्ष की ओट से अपना बाण शंकर पर चलाने लगे। उनके मन में क्षोभ हुआ। उन्हें कामदेव के कपट-व्यवहार पर अत्यन्त क्रोध हुआ और उन्होंने अपना प्रलयंकारी तृतीय नेत्र खोल दिया। इस घटना का उल्लेख महाकवि कालिदास ने बड़े ही उत्कर्ष-

वर्द्धक प्रकार से कुमारसंभव में किया है। उसे हम यहाँ देते हैं:—

"क्रोधं प्रभो! संहर संहरेति,
यावद् गिरा खे मरुतां चरन्ति।
तावत्स वह्निर्भवनेत्रजन्मा,
भस्मावशेषं मदनञ्चकार॥"

हे प्रभो! अपने क्रोध को शान्त कीजिए! शान्त कीजिए! जब तक ये शब्द आकाश-पथ में गूँजे, तब तक तो शिव के नेत्र से उत्पन्न उस अग्नि ने, कामदेव को जला कर भस्म कर डाला और हाहाकार मच गया। यह तो हुई एक काव्य-मय पौराणिक कथा। अब इसका आध्यात्मिक रहस्य भी सुनिये। यह जानने ही योग्य है।

मनुष्य का शरीर कैलास है। उसमें योग-युक्त रहने वाला वीर्यमय जीव ही शङ्कर है, मनोविकार ही कामदेव है और विवेक ही दोष-नाशक 'तीसरा-नेत्र'। ब्रह्मचर्य की अवस्था में मनोविकार उसका अनुष्टान भङ्ग करना चाहता है, परन्तु जब वह विवेक-दृष्टि से देखता है तो उसकी वह काम-वासना तत्क्षण नष्ट हो जाती है।

प्राचीन समय में शुक्राचार्य असुरों के गुरु थे। वे वीर्य-रक्षा के लिए अनेक उपाय बताते थे। एक बार उनकी शिक्षाओं को ग्रहण कर दानव लोग बड़े बलिष्ठ हो गये थे। अब तो उनसे देव-लोग भी भयभीत होने लगे। कहा जाता है इन आचार्य के पास संजीवनी नाम की विद्या थी, जिससे वे मृतक को भी जीवित कर सकते थे। इसलिये देवों ने अपने 'कच' नामक एक व्यक्ति को उनके पास यह अमोघ ज्ञान प्राप्त करने के लिये भेजा। शुक्राचार्य के प्रताप से इनको भी वह विद्या आ गई। यह विद्या क्या थी, जो केवल कच ने बड़े परिश्रम द्वारा प्राप्त

की ? शुक्राचार्य ने एक बार यम विद्या से कच को मरने से बचा लिया था। वह आख्यान आगे दिया जायगा।

अब पाठक काम-नाशक तृतीय नेत्र और संजीवनी विद्या का भेद समझ गये होंगे।

अभ्यास और वैराग्य नाम के दो नेत्र हैं। 'तृतीय-नेत्र' जो कि मस्तिष्क में है, वह आत्म-ज्ञान है। उसके खुलने से निश्चय ही काम का नाश हो जाता है। शिव के पास वही नेत्र था। इसीलिये उन्होंने कामदेव को जला कर क्षार कर दिया। यदि तुम भी अपने मनोविकारों को जला कर 'शंकर' बनना चाहते हो, तो इस नेत्र को प्राप्त करने का उद्योग करो।

वीर्य की रक्षा करने वाली नियमावली का नाम संजीवनी विद्या है। जो इसे नहीं जानता, वह मृतक हो जाता है। अर्थात् अपने को विकारों से सुरक्षित नहीं रख सकता। वीर्यनाश का ही नाम मृत्यु है। जो इस विद्या को नहीं जानता, वह अपने को इस मृत्यु से नहीं बचा सकता। यदि तुम इस शुक्र-संरक्षण-विधि को जानते हो और इसका अभ्यास भी है, तो तुम स्वयं सुरक्षित हो, और औरों को भी तुम मृतकत्व से जीवित कर सकते हो। यह तुम्हारे लिये सब से अधिक सुख की बात होगी।

ब्रह्मचारियों को चाहिये कि इन दोनों आचार्यों का अनुकरण करें। इन दोनों ने ब्रह्मचर्य-रक्षा के लिये, जो योग्यताएँ प्राप्त की थीं, वे सब के लिये और सब कालों में, मनुष्य का हित कर सकती हैं। इन आचार्यों को अपना आचार्य मान कर, साधना में तत्पर हो जायँ!

त्रिनेत्र और संजीवनी-विद्या

"त्र्यम्बकं यजामहे, सुगन्धिम्पुष्टिवर्धनम्।
उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीयमामृताम्॥"
(यजुर्वेद)

हम तीन नेत्र धारण करने वाले उस शिव की उपासना करते हैं जो आनन्द और आरोग्य की वृद्धि करते हैं। वे खर्बूजा नामक फल विशेष की भाँति हमें मृत्यु-बन्धन से मुक्त करें और दीर्घ जीवन दें।

"ह्येषा संजीवनी विद्या, संजीवयति मानवम्।"

(सूक्ति)

यह संजीवनी नामक विद्या निश्चय-पूर्वक मनुष्य को मरने से रक्षित रखती है। इसीलिये इसका नाम 'संजीवनी' पड़ा है।

हमारे मत से प्रत्येक पुरुष भगवान् शङ्कर और शुक्राचार्य बन सकता है। शंकर का अर्थ है—सुख-कारक। जो अपना तथा संसार का कल्याण करे, वह शंकर है। और शुक्राचार्य का अभिप्राय है—वीर्य-रक्षक। जो स्वयं वीर्य का संरक्षण करे और संसार को भी वीर्य रक्षा का उपदेश देकर सुधारे।

यह बात छोटे-बड़े प्रायः सभी लोग जानते हैं कि शंकर के 'तीन नेत्र' थे। स्वाभाविक दो नेत्रों के अतिरिक्त एक विचित्र नेत्र उनके ललाट में था। इसे वे गुप्त रखते थे। जब जनता में तमोगुण की वृद्धि होती थी, तब वे इसे प्रकट कर इससे संहार करने का काम लेते थे। कामदेव के आक्रमण करने पर, उन्होंने इसी के बल से उसे दग्ध कर अपने ब्रह्मचर्य का संरक्षण किया था। इसी नेत्र के कारण देवों ने उन्हें अपना गुरु मान लिया था, और असुर-समूह उनसे सदा भयभीत रहता था। यह नेत्र उन्हें मिला कहाँ से था? ब्रह्मचर्य-युक्त योग-साधन से! यह तीसरा नेत्र क्या था? आत्मज्ञान था!

यदि तुम शंकर बनना चाहते हो तो इस तृतीय नेत्र को प्राप्त करने का प्रयत्न करो। बिना इसके तुम अपने मनोविकारों का कदापि नाश नहीं कर सकते। मनोविकारों के नष्ट होने से ही मनुष्य अपना तथा संसार का हित कर सकता है। त्रिनेत्र हो

जाने पर समस्त दुर्गुणों को भी नष्ट किया जा सकता है। इस प्रलयंकारी नेत्र का बड़ा माहात्म्य है। इसी के प्राप्त हो जाने से शिव 'मृत्युञ्जय' भी बन गये थे। तुम भी कामनाशक 'मृत्युञ्जय' बन सकते हो! इसके बल से तुम्हारा अखण्ड ब्रह्मचर्य-तप कभी भ्रष्ट नहीं हो सकता।

यह बात हम पहले कह आये हैं कि शुक्र के पास 'संजीवनी विद्या' थी। इसके प्रताप से वे असुरों को जीवित कर देते थे। असुर लोग उन्हें आचार्य मानते थे। उन्होंने इसी के प्रयोग से कच नाम के विद्यार्थी को जीवित कर दिया था।

कच बृहस्पति के पुत्र थे। ये संजीवनी विद्या सीखने के लिये शुक्र के पास गये और ब्रह्मचर्य से रह कर विद्या सीखने की याचना की। यह बात असुरों को ज्ञात हुई। इस पर वे जले और कच को मार डाला। पर शुक्राचार्य ने उन्हें पुनः जीवित कर दिया।

यह संजीवनी विद्या क्या थी? वीर्य-संरक्षण की प्रणाली थी। असुरों ने कई बार कच को मार डाला था। इसका यही अभिप्राय है कि उसे अपने संसर्ग से वीर्य-नाशक—व्यभिचारी बना डाला था। हम कह चुके हैं कि 'वीर्यनाश ही मृत्यु है'। इसीलिये शुक्र ने कच को वीर्य-रक्षा के उपाय बता कर, उसे सचेत कर दिया, वह पुनः सदाचार से रहने लगा। इसी सञ्जीवनी विद्या के पा जाने से कच ने अन्त में देवयानी जैसी सुन्दरी का तिरस्कार कर दिया था।

अब पाठक 'त्रिनेत्र' और 'सञ्जीवनी विद्या' के उपाख्यानों का रहस्य समझ गये होंगे। ब्रह्मचर्य से रहने वाले सदाचारी को 'देव' और वीर्यनाश करने वाले दुश्चरित्र को 'असुर' समझना चाहिये।

त्रिनेत्र प्राप्त होने से ब्रह्मचर्य की रक्षा होती है और सञ्जीवनी-विद्या से वीर्यनाश से उद्धार होता है। जो ब्रह्मचारी हैं वे तो

मनोविकारों का नाश कर सुरक्षित रहते हैं और जो व्यभिचारी हैं वे ब्रह्मचर्य से रहने के लिये उपाय खोजते हैं। अतएव प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है कि वह त्रिनेत्र और सञ्जीवनीविद्या—दोनों को प्राप्त करे। त्रिनेत्र 'आत्मज्ञान' और सञ्जीवनीविद्या—'वीर्य-रक्षा-प्रणाली' है। इन दोनों की प्राप्ति से देव और असुर—दोनों प्रकार के मनुष्यों का उद्धार निश्चित है।

आवश्यक सन्देश

"आहार-निद्रा-भय-मैथुनञ्च,
सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम्।
ज्ञानं हि तेषामधिको विशेषो,
ज्ञानेन हीनाः पशुभिः समानाः॥"

आहार, निद्रा, भय और मैथुन—ये चारों मनुष्यों और पशुओं में समान रूप से विद्यमान है। पर मनुष्यों में ज्ञान विशेष रूप से अधिक है। इसीलिये मनुष्य संज्ञा हुई है। जो लोग इस से हीन हैं, वे फिर पशु ही के तुल्य हैं।

सारे प्राणियों में मनुष्य ज्ञानवान् प्राणी है। वह तर्क वितर्क द्वारा हिताहित तथा कारण-कार्यों का निर्णय कर सकता है। इसीलिये वह सर्व-श्रेष्ठ माना जाता है।

चौरासी लक्ष जीव-योनियों में सब से श्रेष्ठ योनि मानव-शरीर है। इसीलिये यह सबसे मूल्यवान् है। यदि इसे प्राप्त कर किसी प्रकार की असावधानी की गई, तो फिर कर्मानुसार अनेक योनियों में भ्रमण करना पड़ता है, जिनमें प्राणी को सद्ज्ञान मिलना कठिन है।

ऊपर कहा गया है कि मनुष्य सर्वश्रेष्ठ प्राणी है, वह क्यों? ज्ञान के कारण। मानव-शरीर सब से मूल्यवान् है, वह क्यों? चौरासी लक्ष जीव-योनियों में सब से उच्च होने से। यदि यह

बात है, तो उसका जीवन भी सब से श्रेष्ठ होना चाहिये। यदि जीवन श्रेष्ठ है, तो फिर उसका उद्देश्य भी सर्व श्रेष्ठ होना चाहिये और उस उद्देश्य तक पहुँचने के लिये श्रेष्ठ कर्मों का होना भी आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है।

मनुष्य-जीवन का उद्देश्य क्या है, और उस तक पहुँचने के लिये फिर क्या उद्योग करना चाहिये ? वह हम नीचे लिखते हैं—

मनुष्य-जीवन का सब से बड़ा उद्देश्य क्या है—सुख-शान्ति के साथ परमानन्द परमात्मा को प्राप्त करना; और इसे साधने वाला सब से बड़ा कर्म है—संयमशील ब्रह्मचर्य। बस इसी उद्देश्य की प्राप्ति और इसी कर्म के करने के लिये वैदिक-काल से प्रयत्न होता आ रहा है। मनुष्य-जाति के विविध मत-मतान्तरों के धर्म-ग्रन्थों का सार तत्त्व भी यही है। संसार में सब धर्मों के ऋषि-मुनियों ने भी अपने जीवन में इसी के लिये प्रयत्न किया है।

मनुष्य-जीवन का उद्देश्य, क्षणिक और कृत्रिम सुख नहीं जो कि विषयोपभोग से मिलता है। वह तो पशुओं—नहीं, नहीं—राक्षसों का उद्देश्य और कर्म है। वास्तव में मनुष्य के गुण—सत्यनिष्ठा, शील, बल, विद्या, सदाचरण, परोपकार, साहस, तेज, उत्साह, धैर्य, जीव-दया, विश्व-प्रेम, भ्रातृ-भाव तथा सत्-सुधार आदि हैं। कायरता, द्वेष, दम्भ, असत्य, कलह, निन्दा, विवाद, हठ, अपकार, अन्याय, रुग्णता, भय, इन्द्रिय-लोलुपता, असहिष्णुता तथा क्रोध आदि तो दुर्गुण ही कहे जायँगे। गुणों के द्वारा ही सत्कर्म करके सदुद्देश्य की सिद्धि हो सकती है। दुर्गुणों के वशीभूत होने से तो दुष्कर्म और पतन होता है।

ब्रह्मचर्य के पालन में स्थायी सुख और सद्गुण वास करते हैं। विषय-भोग तो क्षणिक आनन्द (जिसका फल दुःख होता है) और दुर्गुणों का घर है। एक अमृत-फल है तो दूसरा विष-फल। पहले के चखने का परिणाम 'जीवन' और दूसरे का 'मरण' है। पहला स्वर्ग और दूसरा नरक में भेजने वाला है।

आप जीवन के सार को समझ गये होंगे। आप अमर-फल खाकर स्वर्गीय सुख भोगना चाहते हैं या कटु विषाक्त-फल खाकर नारकीय दुःख ? आपकी अन्तरात्मा तो पहले की ही ओर है। दूसरे से सबकी घृणा होगी और यही उचित भी है। पर मनुष्य इन्द्रियों के मोह में पड़ कर अपनी आत्मा की आवाज़ पर ध्यान नहीं देता और इसीलिये कष्ट पाता है। अतः आप लोग हनूमान्, भीष्म, शंकराचार्य, दयानन्द और विवेकानन्द बनने का सदैव उद्योग करें। उसी प्रकार से माताएँ और बहिनें भी सरस्वती, वेदवती, अरुन्धती, पार्वती और सीता का अनुकरण करें। यही हमारा आवश्यक तथा अन्तिम सन्देश है।

पाठ २

सुन्दरसेन और मन्दारवती

कौबेरी ❀ दिशा का अलङ्कार स्वरूप निषध नामक देश है। तहाँ पूर्वकाल में अलका नाम्नी एक पुरी थी। उस नगरी का वर्णन क्या किया जाय, वहाँ के लोग सब प्रकार की समृद्धि से छके और सदा सुखी रहते। यदि कुछ विकलता थी तो रत्न दीपों को कि वे सदा प्रज्ज्वलित रहते थे। उस नगरी में महासेन नामक राजा हुए जो कि अन्वर्थनामा † थे; क्योंकि शरजन्मा × के समान उनका प्रताप अत्यन्त उग्र था, जिस प्रतापाग्नि से उनके समस्त शत्रु जल बुताये। उनके मन्त्री का नाम था गुणपालित; वह भी सचमुच समस्त गुणों का आकर, शूरता का निवासस्थान और पृथ्वी के भार वहन में मानों द्वितीय शेषनाग था। शत्रुओं का मूलोच्छेद कर राजा इस सर्व-गुण सम्पन्न मन्त्री पर राज्य का समस्त भार रख आनन्द से दिन व्यतीत करने लगे।

कुछ कालोपरान्त उनकी रानी शशिप्रभा के एक पुत्र हुआ। महीपति ने अपने कुमार का नाम रक्खा सुन्दरसेन। राजकुमार भी होनहार थे। बालकपन ही में उनमें वे गुण विद्यमान थे कि जो बड़ों में नहीं पाये जा सकते। शौर्य-लक्ष्मी और सौन्दर्य-लक्ष्मी ने स्वयम्वर में उन्हें अपना पति चुन लिया था।

उन राजकुमार के पाँच मन्त्री हुए, जो कि बालकपन ही से उनके साथ बढ़े थे। वे सबके सब शूर और उनके समवयस्क थे। उनके नाम चन्द्रप्रभ, भीमभुज, व्याघ्रपराक्रम, वीरविक्रमशक्ति, और दृढ़बुद्धि थे। वे सब बड़े बलवान् और सत्त्वसम्पन्न

❀ उत्तर। † जैसा नाम वैसे ही गुण। × स्वामिकार्तिक।

तथा बुद्धि के सागर, स्वामिभक्त और कुलीन थे और पत्नियों का रुत ❀ वे समझते थे। राजकुमार अपने उन मन्त्रियों के साथ अपने पिता के भवन में रहते थे।

इस प्रकार राजकुमार की युवावस्था आ गई। किन्तु उनको अनुरूप भार्य्या अबलों न मिली। तब राजकुमार सुन्दरसेन अपने उन मन्त्रियों के साथ बैठ कर इस प्रकार बिचार करने लगे कि शौर्य्य वही जो नम्रों को न दबावे और धन वही जो निज भुजाओं से अर्जित हो और भार्य्या वही जो रूपवती और अनुरूपा हो। यदि ऐसा हो तो अहोभाग्य है और यदि ये तीनों हुए और फल विपरीत ही निकले तो इनके होने से लाभ ही क्या?

अब एक समय की बात है कि राजकुमार सुन्दरसेन अपने इन पाँचों सचिवों को संग लेकर सेना के साथ आखेट करने के हेतु निकले। जब कि वह नगर से निकल रहे थे कि एक कात्यायनी नाम्नी एक प्रौढ़ा परिव्राजिका की दृष्टि उन पर पड़ी। यह परिव्राजिका बड़े दूर देश से आई थी। उसका अद्भुत रूप देख कर वह प्रौढ़ा अपने मन में चिन्ता करने लगी कि अहो यह रोहिणी-विहीन चन्द्र हैं अथवा रति-हीन कामदेव हैं। जब उनके परिचर वर्ग से उसे ज्ञात हुआ कि यह राजकुमार हैं तब वह विधाता की विचित्रता की प्रशंसा करती हुई अति अचम्भित हो गई। अब दूर ही से बड़े ऊँचे स्वर से पुकार कर उसने कहा—"कुमार! जय हो" इतना कह झुक के आशीर्वाद दिया। राजकुमार सुन्दरसेन तो अपने सचिवों के साथ बात-चीत में मग्न थे, इसकी बात न सुनके बराबर आगे चले जा रहे थे। तब तो इस तापसी को बड़ा क्रोध आया और अत्याधिक ऊँचे स्वर से चिल्ला के बोली—"अहो राजपुत्र! मेरा आशीर्वाद क्यों नहीं सुनते हो? पृथ्वी में ऐसे कौन

❀ बोलना।

राजा और राजकुमार हैं जो मेरी पूजा न करते हों ? जब तुम्हें अपने सौन्दर्य का ऐसा घमण्ड है तो यदि तुम हंसद्वीपेश्वर की कन्या जगत् की ललामरूपा अति सुन्दरी मन्दारवती को अपनी स्त्री के लिये पा जाओगे तब तो मैं समझती हूँ कि ऐसे मदान्ध हो जाओगे कि इन्द्रादिक देवों की भी बात न सुनोगे। फिर (उस समय) विचारे मानवों की कौन चलावे?" राजकुमार सुन्दर-सेन उस तापसी का इतना कहना सुन रुक गये और उसको बुलवा कर अति नम्रता से विनती कर अपराध क्षमा कराने लगे। इसके उपरान्त अपने मन्त्री विक्रमशक्ति के घर अपने सेवकों के द्वारा उसे भिजवा दिया कि वहाँ वह उतरे और विश्राम करे। क्योंकि अब तो राजकुमार के मन में मन्दारवती के विषय में जिज्ञासा उठी। अब आखेट नाममात्र का रह गया। हाँ गये, किन्तु चटपट कुछ कर धर के घर लौट आये।

अब कुमार सुन्दरसेन मृगया से लौटे और अपना आह्निक कर्म कर सुचित्त हुए और उधर वह तापसी भी भोजन करके निवृत्त हुई। तब राजकुमार ने उसे बुलवाय भेजा और जब वह आई तब उसे आसन पर अधिष्ठित करा बड़े आदर से वह उससे पूछने लगे "भगवति! कहिये तो सही वह मन्दारवती कौन है, जिसकी बात आपने कही थी ? मेरे मन में इसके जानने की बड़ी लालसा है।" उनका ऐसा कथन सुन वह तापसी बोली— "सुनो मैं तुम्हें यह वृत्तान्त सुनाती हूँ। यह तो तुम जानते ही हो कि हम तपस्वियों का काम तीर्थाटन और देव-दर्शनों के अति-रिक्त और क्या है। बस इसी निमित्त मैं इस द्वीपवती वसुन्धरा में घूमा करती हूँ। इसी प्रकार घूमती हुई हंसद्वीप में पहुँच गई, वहाँ मन्दारदेव की कन्या मुझे दीख पड़ी। वह कन्या क्या ही लावण्यमयी है, कि मैं उसका क्या वर्णन करूँ; देवपुत्रों के उपभोग के योग्य वह है। जबलों किसी प्राणी के प्राक्तन

पुण्यों का उदय न हो, वह उसको देख ही नहीं सकता। वह मन्दारवती क्या है, नन्दन-वन की लक्ष्मी ❀ है। मूर्त्ति उसकी कैसी कि देखते ही मन हर लेवे, और जो देखे वह स्मर-बाणों से आहत हो व्यग्र हो जावे। ऐसी भावना होती है कि मानो विधाता ने सुधामय यह दूसरा चन्द्रमा बनाया हो। इस भूमण्डल पर तो उसके रूप के सदृश किसी का रूप है ही नहीं। परन्तु मेरी बुद्धि इतनी साक्षी देती है कि तुम उसके अनुहार हो। जिन्होंने उसे न देखा, उनके नेत्र व्यर्थ हैं और उनका जन्म निष्फल।"

तापसी के मुख से उसकी ऐसी प्रशंसा सुन राजकुमार बोले—"अम्ब! जब उसका ऐसा रूप है, तो कैसे हम लोग उसका ऐसा सौन्दर्य-मय रूप निरख सकते हैं?" राजकुमार का ऐसा कथन सुन वह परिव्राजिका बोली—"मैं भी एक ही हूँ, जब कि मैंने उसका अनुपम रूप देखा, चट उसका चित्र एक चित्रपट पर उतार लिया, मेरे पास चोंगे में वह चित्र रक्खा है। यदि ऐसी उत्कण्ठा हो तो उसका चित्र देख लो।" इतना सुनते ही राजकुमार अति प्रसन्न हो गये। तब उस तापसी ने चोंगे से निकाल कर वह चित्र राजकुमार को दिखा दिया। राजकुमार सुन्दरसेन उस कन्या का चित्र देख कर अति अचम्भित हो गये। और आनन्द-सागर में मग्न होकर एक टक से उसका अनुपम सौन्दर्य निरखते ही रह गये। अङ्गों में रोमाञ्च हो आया और तत्क्षण पुष्प-धन्वा ने अपने बाणों का प्रहार उन पर किया। अब धीरे-धीरे उनकी दशा ऐसी हो गई कि कुछ न सुनते, न कुछ बोलते और न कुछ देखते ही, मानों चित्र लिखे से निश्चल हो गये। यह दशा उनकी बहुत देर तक रही। तबतो

❀ शोभा।

उनके मन्त्रियों को बड़ा खटका हुआ। सो वे उस तापसी से कहने लगे,—"आर्ये! एक काम तो करो कि राजकुमार सुन्दर-सेन का चित्र तो एक पट पर उतारो, जिससे हमें ज्ञात हो जाय कि तुम ठीक ठीक अनुरूप चित्र उतार सकती हो।"

राजकुमार के मन्त्रियों का एतादृश कथन सुन उस तपस्विनी ने तत्क्षण कुमार सुन्दरसेन का चित्र एक पट पर उतारा और मन्त्रियों को दिखा दिया। वह चित्र देखकर सब मन्त्री अति विस्मित हुए और उससे कहने लगे,—"भगवति! तुम्हारी विद्या में किसी प्रकार की न्यूनता नहीं है, यह तो साक्षात् कुमार ही बैठे हैं, भला कोई इसे चित्र कह सकेगा? इसी से हम लोगों को निश्चय होता है कि देवी मन्दारवती भी ऐसी ही होंगी, जैसी कि चित्र में प्रतीत हो रही हैं।" इस प्रकार मन्त्री कह ही रहे थे, कि राजकुमार ने अति प्रसन्नता से दोनों चित्र ले लिये और बड़े सन्मान से उस तापसी की पूजा की और यथा-योग्य उसका आदर-सत्कार कर उस एकान्तवासिनी तापसी को विदा किया।

अब वह अपनी कान्ता का चित्रपट लिये हुए अपने अभ्य-न्तर गृह में गये और वहाँ शय्या पर लेट कर उस चित्र का निरीक्षण करने लगे। इस प्रकार शयनीय पर पड़े पड़े वह चित्र का दर्शन करते थे। बस, यही उनका प्रतिदिन का व्यापार ठहरा। आहार-विहार सब छूटा और वह स्मरज्वर में भुनते रहते।

होते होते यह बात उनके पिता महाराज महासेन तथा माता शशिप्रभा के कर्ण-गोचर हुई। सो उन्होंने राजकुमार के मन्त्रियों को एकान्त में बुलाकर उनसे राजकुमार के अस्वास्थ्य का कारण पूछा। वयस्यों ने साद्यन्त वृत्तान्त कह सुनाया कि बात ऐसी है और इनके रोग का कारण हंसद्वीपेश्वर की आत्मजा हैं।

उनका कथन सुन राजा महासेन ने अपने पुत्र सुन्दरसेन से कहा "पुत्र ! यह तुम क्यों छिपाते हो ? यह तो योग्य पात्र ही है। मन्दारवती कन्याओं में रत्न है और तुम्हारे योग्य है; पुनः उसके पिता मन्दारदेव तो हमारे बड़े मित्र हैं। यह विषय तो बड़ा ही सुख-साध्य और द्रुत-साध्य है। सो तुम इसमें इस प्रकार इतना व्यग्र क्यों हुए जाते हो ?" इस प्रकार पुत्र को समझा बुझा शान्ति देकर महाराज महासेन ने अपने मन्त्री से परामर्श कर उस कन्या की याचना के निमित्त सुरतदेव नामक एक दूत को हंसद्वीप में राजा मन्दारदेव के पास भेजा और उस दूत को राजकुमार सुन्दरसेन का वह चित्रपट दे दिया कि जिससे उनके रूप का प्रकाश वहाँ हो जावे कि उनका भी रूप कैसा अलौकिक है।

अब दूत सुरतदेव वहाँ से चला और चलता चलता समुद्र-किनारे राजा महेन्द्रदत्त के शशाङ्कपुर नामक नगर में पहुँचा। वहाँ वह अर्णवपोत पर आरूढ़ हुआ और चला। कुछ दिनों में हंसद्वीप में पहुँचा और तहाँ राजा मन्दारदेव के मन्दिर पर उपस्थित हुआ। द्वारपालों ने महाराज मन्दारदेव को उसके आगमन की सूचना दी और राजाज्ञा पाय सुरतदेव राजसभा में उपस्थित हुआ और महाराज मन्दारदेव ने कुशल-प्रश्नान्तर उसका उचित आतिथ्य किया।

अब वह दूत महाराज महासेन का सन्देश सुनाकर कहने लगा कि नृपते ! महाराज महासेन ने यह सन्देश भेजा है कि आप अपनी दुहिता मेरे पुत्र सुन्दरसेन के लिये दे देवें। कात्यायनी नाम्नी तापसी जो राजकुमारी का चित्र उतार लाई थी सो यहाँ उसने राजकुमार को दिखाया। उसका रूप मेरे पुत्र के अनुरूप ठहरा, सो मैं भी सुन्दरसेन का चित्र भेजता हूँ कि आप लोग भी देख लेवें कि राजकुमार का रूप कैसा है। मेरा पुत्र

आत्मानुरूप भार्य्या के न पाने से विवाह नहीं किया चाहता और जहाँ लों हम लोगों की बुद्धि साक्षी देती है आपकी दुहिता इनके अनुरूप हैं। सो महाराज यह उनका सन्देशा आपको मैं सुना गया और देखिये यह राजकुमार का चित्र है, बस आप माधवी-लता का संयोग मधु से कर देवें।

दूत का इतना कहना सुन मन्दारदेव ने अति प्रसन्नता से मन्दारवती राजकुमारी तथा उनकी माता को बुलवाया, और उन्हीं के साथ चित्रपट खोलकर जो देखा कि देखते ही उनका यह घमण्ड जाता रहा कि मेरी दुहिता के समान पृथ्वी में कोई है ही नहीं। अब वह बोले "यदि इस राजपुत्र के साथ मेरी पुत्री का संयोग हो जाय तो इसके रूप का निर्माण सफल हो जाय। उनके बिना न इसकी और इसके बिना न उन्हीं की शोभा हो सकती है। कमलिनी बिना हंस क्या और हंस बिना कमलिनी क्या ?" राजा का ऐसा वचन सुन रानी चन्द्रावती ने भी उन्हीं का अनुकरण किया और मन्दारवती राजदुलारी उन दोनों की उक्ति के श्रवण करते ही उसके अनुपम रूप के निरीक्षण से तत्क्षण मदन-बाण से आहत हो मोहित हो गईं। वह एक-टक से चित्रपट की ओर निरखती ही रह गईं, मानों निद्रा-रहित सोई हुई हैं और चित्र क्या निरखती हैं स्वयं मानों चित्र हो गई हैं। अपनी दुहिता मन्दारवती की एतादृश अवस्था देख महा-राज मन्दारदेव ने उनका दान करना स्वीकार किया और दूत का बड़ा आदर और सन्मान किया।

दूसरे दिन उन्होंने कुमारदत्त नामक ब्राह्मण को अपनी ओर का दूत ठहरा के उस दूत के साथ महाराज महासेन के निकट भेजा और उन दोनों से कहा कि तुम दोनों अति शीघ्र जाकर मेरी ओर से अलकेश्वर महासेनजी से कहना कि आपके सौहार्द

से मैंने अपनी कन्या दे दी। अब कहिये आपके चिरञ्जीव यहाँ आवेंगे अथवा मैं अपनी पुत्री को वहाँ भेज दूं ?

अब महाराज मन्दारदेव का सन्देश ले वे दोनों दूत यहाँ से चले और प्रवहण पर आरूढ़ हो अति शीघ्र समुद्र में चले। शशाङ्कपुर में पहुँचकर वे दोनों थल पर उतरे और थोड़े ही दिनों में अलका सी समृद्ध अलकापुरी में पहुँच गये। अब वे राज-भवन में पहुँच कर महाराज महासेन के समक्ष उपस्थित हुए। महीपति ने उनका बड़ा सन्मान किया और तब उन दोनों ने बड़े सत्कार से महाराज मन्दारदेव का प्रतिसन्देश कह सुनाया। सुनते ही महीश्वर अति प्रसन्न हुए और उन्होंने दूतों की यथेष्ट पूजा की। अब उन्होंने मन्दारवती के पिता के भेजे हुए दूत से मन्दारवती का जन्म-नक्षत्र पूछा और अपने गणकों से कहा कि राजकुमार के विवाह का लग्न ठहराइये। उन्होंने गणना करके बतलाया कि महाराज! आज से तीन मास के उपरान्त कार्तिक मास के शुक्ल पक्ष की पञ्चमी तिथि को शुभ लग्न ठहरता है। यह लग्न वर और वधू के अनुकूल उतरता है। अब महाराज अलकेश्वर ने उसी लग्न में अपने पुत्र का विवाह निश्चित किया और पुत्र का भेजना भी स्वीकृत किया। एक पत्र लिखकर मन्दारदेव के दूत कुमारदत्त को दिया और साथ में अपनी ओर से अब की बार चन्द्रस्वामी नामक एक दूत को साथ कर दिया। उन दूतों ने जाकर महीपति हंसद्वीपेश्वर मन्दारदेव को वह पत्र दिया और सारा वृत्तान्त कह सुनाया। राजा लग्न सुन अति प्रसन्न हुए और उन्होंने बड़े सत्कार से चन्द्रस्वामी का आगत-स्वागत किया और विधिवत् पूजा कर उसे विदा किया। अब वह दूत लौट कर अलकापुरी में आया और सब वृत्तान्त कह गया कि महाराज! वह लग्न उन्होंने धर

लिया। अब दोनों ओर के लोग उस लग्न की प्रतीक्षा में बड़ी उत्कण्ठा से पड़े रहे।

उधर हंसद्वीप में मन्दारवती की यह दशा थी कि जबसे राजकुमार सुन्दरसेन का चित्र देखा तब से उनको प्रतिक्षण उन्हीं का ध्यान बना रहता; और जब कि उन्हें यह ज्ञात हुआ कि लग्न तीन मास के उपरान्त पड़ा है तब तो उनकी कामाग्नि और दूनी हो गई और विरह-व्यथा असह्य हो गई। अङ्गों में शीतल चन्दन का लेप होता सो अङ्गार का काम करता, नलिनी पत्रों की जो शय्या थी सो उद्दीप्त बालुका सी प्रतीत होने लगी, सुधांशु की अति शीतल किरणें प्रदीप्त अनलशिखा सी भासने लगीं। भाव यह है कि सुन्दरसेन के विरह में समस्त आनन्दप्रद पदार्थ दुःखद प्रतीत होने लगे। भोजन पान सब छूट गये और विरह से उनका शरीर दिनों दिन दुर्बल हो चला। राजकुमारी सर्वदा मौन रहने लगीं।

अब राजकुमारी मन्दारवती की ऐसी दशा देख उनकी एक आप्त सखी ने बड़े आग्रह से उनसे पूछा कि राजकुमारि! तुम्हारी यह क्या दशा हुई जा रही है? सखी उनकी बड़ी प्रिय थी, अतः उसका अनुरोध वह न त्याग सकीं और अपने हृदय की व्यथा उससे कहने लगीं—"सखि! अलकाधिप के पुत्र का चित्र जब से देखा, तब से मेरा चित्त स्थिर नहीं है। यद्यपि इतना तो हुआ है कि उनके साथ विवाह स्थिर हो गया है, तथापि अब लग्न इतना दूर पड़ गया कि मुझसे कुछ कहा नहीं जाता और मेरी यह दशा है कि एक घड़ी पहाड़ सी बीतती है। मैं कितना भी धीरज धरती हूँ, पर मन धीरज नहीं धरता। वह देश बड़ी दूर है और इतने दिनों का अभ्यन्तर, फिर विधि की गति अति विचित्र है ही, सो कौन जानता है कि इस बीच में

किसका क्या होगा ! अब मैं देखती हूँ कि मुझे इसी विरह-व्यथा में प्राण त्यागने पड़ेंगे।" इतना कहती-कहती मन्दारवती विरह से व्याकुल हो गई और तत्क्षण उसकी दशा बड़ी भयङ्कर हो गई। सखी के द्वारा मन्दारवती की इस दशा का वृत्तान्त महाराज मन्दारदेव को विदित हुआ और तब वह अपनी भार्या के साथ उसे देखने के लिये स्वयं उपस्थित हुए। देखें तो सचमुच मन्दारवती की दशा शोचनीय हो गई है। तब राजा मन्दारदेव अपने मन्त्रियों से इस विषय में मन्त्रणा करने लगे, कि अब क्या किया जाय? महाराज मन्दारदेव ने कहा कि अलकाधिपति महाराज महासेन हमारे मित्र ही हैं और यह मन्दारवती एक घड़ी का वियोग भी नहीं सह सकती है, तो इसमें क्या लज्जा है, यदि यह मन्दारवती वहाँ भेज दी जाय? अपने कान्त के समीप जब यह रहेगी, तब इसे कुछ धैर्य होगा और तब वह आनन्द में काल-क्षेप कर सकेगी। चलो यह परामर्श ठीक हो गया और उन्होंने मन्दारवती को बुलाकर बहुत कुछ शान्ति दी।

अब राजा मन्दारदेव ने बहुत सा धन देकर अपनी पुत्री को प्रवहण पर आरूढ़ कराया और साथ में अनेक सेवक कर दिये। राजा ने विनीतमति नामक अपने मन्त्री को साथ कर दिया और शुभ दिन में मन्दारवती को अलकापुरी की ओर विदा किया। प्रवहण वहाँ से चला।

कुछ दिन तो अर्णवपोत सपरिच्छद मन्दारवती को लिये हुए निर्विघ्न चला गया। अब एक दिन की बात है कि अकस्मात् प्रचण्ड वेग से गर्जता हुआ मेघ रूपी तस्कर उठा, आँधी चली और मूसलाधार वृष्टि भी होने लगी। मानों वह तस्कर बाण-प्रहार करता हो। अन्धड़ में पड़कर जहाज़ डाँवाडोल हो गया और

क्षण भर में बड़ी दूर निकल गया। जहाज पर जितने लोग थे विनीतमति सहित सब के सब समुद्र में डूब गये और मन्दारवती का सारा धन सागर के गम्भीर उदर में विलीन हो गया। राजकुमारी लहरों में पड़ कर समुद्रतटवर्ती वन में जा पड़ीं। मानो समुद्र ने अपने तरङ्गरूपी हाथों से उठा कर उन्हें वहाँ रख दिया हो। कहाँ समुद्र में गिरना और कहाँ तरङ्गों में पड़ कर वन में पहुँचना? देखो भवितव्य को कुछ भी असाध्य नहीं है!

उस अवधि से तो राजकुमारी बच निकलीं, पर यहाँ निर्जन वन में इस प्रकार अपने को एकाकिनी देख कर अत्यन्त त्रस्त और विह्वल हो दुःख-सागर में गोते खाने लगीं। "हा! कहाँ को मैं प्रस्थित हुई और कहाँ आ पड़ी? मेरे वे नौकर चाकर कहाँ हैं? और वह विनीतमति ही कहाँ है? अकस्मात् हम लोगों पर यह क्या विपत्ति का बादल टूट पड़ा! हा! मेरी यह क्या दशा हो गयी? मैं अभागिन अब कहाँ जाऊँ और क्या करूँ? हा! मैं मारी गई। हा हतविधे! तूने मुझे समुद्र से क्यों पार कर दिया? हा तात! हा अम्ब! हा अलकापति के सुत आर्य्यपुत्र! तुम कहाँ हो? तुमको बिना पाये ही मैं मरा चाहती हूँ; क्यों नहीं आकर मेरा परित्राण करते?" इस प्रकार कह कर राजकुमारी मन्दारवती बिलख-बिलख रोती थीं। उनकी आँखों से अश्रुबिन्दु जो गिरते थे सो मानों मोती का हार टूट गया हो और मोती चूते हों।

इतने में यमुना नाम्नी बालब्रह्मचारिणी अपनी दुहिता को साथ लिये हुए मतङ्गऋषि समुद्रजल में स्नान करने के निमित्त आये। इनका आश्रम वहाँ से बहुत दूर नहीं था। ऋषि के कानों में राजकुमारी के रुदन की ध्वनि पड़ी। ऋषि अपनी पुत्री के सहित वहाँ राजकुमारी के समीप चले आये। क्या देखते हैं कि

अपने यूथ से भ्रष्ट मृगी के समान राजकुमारी पड़ी हैं। "तू कौन है और इस वन में तेरा आगमन कैसे हुआ ? और तू क्यों रोती है ?" इस प्रकार दयालु ऋषि ने अति मधुर और स्नेह भरी वाणी से राजकुमारी से पूछा। उनके ऐसे पूछने से मन्दारवती ने समझा कि यह कोई दयालु महापुरुष हैं। सो वह धीरज धर लज्जा से शिर को नीचे कर अपना सारा वृत्तान्त साद्यन्त सुना गई। अब ध्यान से सब जान कर मतङ्ग मुनि ने राजकुमारी से कहा—राजपुत्रि ! विषाद मत कर, धैर्य धर। शिरीष के समान तू कोमलांगी है, तुझे क्लेश बाधा देता है। विपद् यह नहीं देखती कि अमुक कोमल तथा सुकुमार है और अमुक कठोर है। अच्छा तू धीरज धर, मेरी बात मान, अति शीघ्र तू अपने अभीष्ट पति को प्राप्त करेगी, सो चल अब मेरे आश्रम में, जो कि समीप ही है। इस मेरी तनया के साथ रह, तुझे वहाँ किसी प्रकार का कष्ट न होने पावेगा, मानो तू अपने घर ही में रहेगी।" इस प्रकार मन्दारवती को समझा-बुझा कर मुनि ने स्नान किया और पश्चात् वह अपनी पुत्री के साथ मन्दारवती को अपने आश्रम में ले गये। अब राजकुमारी मन्दारवती वहाँ मतङ्ग ऋषि के आश्रम में अपने पति के मिलने की प्रतीक्षा में रहने लगीं और मतङ्ग मुनि की कन्या के साथ ऋषि की परिचर्या में रह कर अपना मन बहलाती थीं।

उधर अलकापुरी में राजकुमार सुन्दरसेन अपनी प्राण-प्रिया से मिलने के हेतु विवाह की प्रतीक्षा में दिन गिन रहे थे। ज्यों ज्यों दिन बीतते थे उनकी उत्कण्ठा बढ़ती जाती थी और विरह-व्यथा से वह भी अधिक व्यथित हुए जाते थे। रात दिन मन्दारवती की ही चिन्ता में पड़े रहते। इससे शरीर कृश होता गया। चण्डप्रभ इत्यादि उनके मित्र बहुत कुछ समझाते बुझाते थे।

अस्तु, अब लग्न का समय निकट आगया और उनके पिता ने हंसद्वीप जाने की यात्रा की सब सामग्री जुटा दी। अब शुभ-मङ्गल दिन में प्रस्थान-कालीन मङ्गल कृत्य कर के, नृपात्मज सुन्दरसेन दल-बल के साथ धरित्री को कम्पाते हुए चले। अपने मित्रों के साथ आनन्द में मग्न चले जा रहे थे; विविध आमोद के अलाप हो रहे थे; इतने में सब लोग समुद्र-तट के आभरण-स्वरूप शशाँकपुर में पहुँचे। राजा महेन्द्रादित्य को आपके आने का सम्वाद ज्ञात हुआ तो वह बड़ी नम्रता और शिष्टता से अगवानी के लिये आये और विनय-पूर्वक बड़े सत्कार से उन का स्वागत कर गजेन्द्र पर आरूढ़ करा उन्हें अपनी नगरी में ले चले। उनके आगमन की वार्ता सुन पुर-सुन्दरियों के मन में उनकी सुन्दरता के निरीक्षण के लिये बड़ी उत्कण्ठा हुई, सो सब अट्टालिकाओं, गवाक्षों तथा प्रसादों से उनका अनुपम रूप निरखने लगी। इस समय इनके हृदयों में अद्भुत खड़बड़ी मच गई जैसे कि पद्मिनी वन में बतास से हो जाती है। अब राजकुमार सुन्दरसेन सब मन्त्रियों सहित राजमन्दिर में पहुँचे। महाराज महेन्द्रादित्य की ओर से अनेक प्रकार के उप-चार होने लगे। विविध परिचर्य्या होने लगी और महाराज कुमार सुन्दरसेन ने विश्राम किया। उनका दिन तो किसी प्रकार से बीता, क्योंकि मन तो मन्दारवती में लीन था; इससे दिन अपार हो रहे थे। अस्तु, महाराज के आतिथ्य से किसी प्रकार वह दिवस व्यतीत हुआ और जगत की रञ्जनी रजनी आ पहुँची। अब इसके मनमें नाना प्रकार के मनोरथ के तरङ्ग उठने लगे। कब ऐसा हो कि समुद्र पार कर अपनी प्राणप्रिया को पाऊँ, वह नवोढ़ा, जिसका प्रेम कि सुलभ है, सुलभ प्रेम तथा लज्जा और भय से सहमती हुई कब मुझे प्राप्त होगी? जबकि मैं आलिङ्गन करने लगूँगा उस समय "मतजी-मतजी" कह के

बोलती हुई उसकी मधुर तथा कोकिलकण्ठवन्दिनी वाणी कब सुनूँगा ? इसी प्रकार अनेक प्रकार की चिन्ता वह रात भर करते रहे, निद्रा आँखों पर न आई और मनोरथों ही के द्वारा वह रात्रि व्यतीत हो गई।

प्रातःकाल हुआ और चलने का उपक्रम होने लगा। राजकुमार ने अपनी सेना वहीं छोड़ दी और थोड़े से लोगों को जिनका संग जाना आवश्यक था, साथ में ले लिया। साथ में महाराज महेन्द्रादित्य भी चले और सब लोग समुद्र तट पर पहुँचे। तहाँ राजकुमार सुन्दरसेन अन्न-जल से परिपूर्ण एक प्रवहण पर राजा महेन्द्रादित्य तथा अपने मन्त्रियों के साथ आरूढ़ हुए और दूसरे पर उन्होंने अपने परिजनों को जिनका संग ले जाना आवश्यक था, चढ़ाया। अब जहाज छूटे और उन पर की पताकाएँ फहराने लगीं और दोनों पोत दक्षिण-पश्चिम् ❀ दिशा की ओर बढ़े।

दो तीन दिवस पर्य्यन्त अर्णवपोत निर्विघ्न चले गये कि अकस्मात् एक बड़ा प्रचण्ड उत्पातकारी पवन उठा; जलधि के तट के वन हिलने लगे कि अहो यह प्रचण्ड अद्भुत पवन आया; इसी आश्चर्य से समस्त वृक्ष लहराने लगे। अब पयोधि का जल भी उठने गिरने लगा; तरङ्ग उठते और गिरते, जैसे कि कालक्रम से मन के भाव उठते और पुनः स्वस्थान पर गिरते जाते हैं†। हाहाकार मच गया और रत्नाकर को रत्नों का अर्घ्य दिया गया और कर्णधारों ने पाल उतार लिये। अब सबकी जीने की आशा जाती रही चटपट लोगों ने बड़े बड़े और भारी भारी ढोंके सिकड़ियों में बाँधकर चारों ओर लटका दिये तथापि तरङ्गों में पड़कर दोनों जहाज युद्ध करते हुए गजेन्द्रों के समान घूमने लगे।

❀ नैऋत्य कोण। † यहाँ यह भी अर्थ निकलता है कि जैसे प्रेम बढ़ता है और काल-क्रम से घट जाता है।

अब सब के धैर्य का नाश हो गया, उस समय सुन्दरसेन ने राजा महेन्द्रादित्य से कहा—"महाराज ! मेरे पाप से यह प्रलय अकस्मात् आप लोगों पर आ पड़ा है; आप लोगों का विनाश मैं नहीं देख सकता, इससे अब अम्बुधि में गिर कर प्राण-त्याग कर देता हूँ।" इतना कह, दुपट्टे से कमर बाँध राजकुमार सुन्दरसेन झटपट समुद्र में कूद पड़े। उनका ऐसा घात देख उनके पाँचों वयस्य चण्डप्रभ इत्यादि और महाराज महेन्द्रादित्य भी अम्भोधि में कूद पड़े। बाहुओं से सब लोग तैरने लगे, सबकी चेतना जाती रही और तरङ्गों में पड़ कर सबके सब कहाँ के कहाँ चले गये। इतने ही में पवन थम गया और समुद्र का गर्जन रुक गया, बिलकुल गीवा हो गया, समुद्र इस समय उस सज्जन के समान हो गया जिसका कोप कि क्षणभर में ही शान्त हो गया हो।

इसी अवसर में कहीं से बहुता हुआ चला आया एक पोत सुन्दरसेन को मिला, सुन्दरसेन के और और साथी तो न जाने कहाँ चले गये रहे, पर दृढ़बुद्धि किसी न किसी प्रकार उनके साथ साथ लगा रहा। सो महाराजकुमार सुन्दरसेन अपने एक ही उस मन्त्री के साथ उस अर्णवपोत पर आरूढ़ हुए। प्रवहण कहाँ और किधर जाता है कुछ भी उनको ज्ञात नहीं होता था, चारों ओर उन्हें जल ही जल दीख पड़ता था, मानों यह संसार जलमय है। उनका पौरुष भी कुछ काम नहीं करता था। अब देवताओं की शरण के अतिरिक्त उनका पौरुष और कुछ न था बस दोनों जने भगवान की शरण में पड़े रहे। जगदीश्वर की कृपा से पवन अनुकूल बहने लगा और तीन दिन में वह जहाज जाकर तीरे लगा। जबकि तीर पर जहाज जाकर अटक गया उस समय दोनों जनों के हृदय में बड़ा आनन्द हुआ। अब

उन्होंने उतर कर थल पर पाँव रक्खे मानों जीवन की आशा ने पैर धरे हों।

अब, जब कि वे तीर पर उतरे तब बैठकर सुस्ताने लगे। अब जाकर साँस आई। तब राजकुमार सुन्दरसेन अपने वयस्य दृढ़बुद्धि से कहने लगे—"भाई! इस समुद्र से हम क्या पार हुए हैं मानों पाताल से हमारा उद्धार हुआ है। देखो तो सही विक्रम-शक्ति, व्याघ्रपराक्रम, चण्डप्रभ और भीमभुज ऐसे ऐसे मेरे सचिव, और अकारण-बन्धु महाराज महेन्द्रादित्य इन सब का विनाश मेरे ही कारण हुआ; तब उनके विनष्ट हो जाने पर मेरे जीने से क्या? मेरे जीवन की शोभा अब क्या रह गई?" राजकुमार का एतादृश कथन सुन दृढ़बुद्धि बोला—"देव! आप धैर्य का अवलम्बन कीजिये, हमारा कल्याण होगा; जैसे हम दोनों बच निकले, ऐसे ही बहुत सम्भव है कि वे भी समुद्र से बच गये हों। दैवगति का भला निश्चय कौन कर सकता है और राजकुमार दैव की गति बड़ी अतर्क्य है, कोई जान भी नहीं सकता।"

इस प्रकार अनेक सान्त्वनामय वाक्यों से दृढ़बुद्धि राज-कुमार को समझा बुझा रहा था कि इसी अवसर में दो तपस्वी वहाँ स्नान करने के निमित्त आये और दोनों को देख, विषण्ण राजकुमार के पास आकर सदय कहने लगे—"हे सुमते! पूर्व कर्म बड़ा बलिष्ठ है, उन्हीं पूर्व कर्मों के प्रताप से सुख और दुःख हाते हैं। देवताओं में भी इतनी शक्ति नहीं कि उनको अन्यथा कर सकें, सो धीर को उचित है कि जो वह दुःख त्याग किया चाहे तो धम्माचरण करे, बस यही उसकी प्रतिक्रिया है, न कि शोक और शरीर का तपाना। सो आप विषाद त्याग करें और अपने शरीर की रक्षा करें, शरीर जब बचा रहेगा तभी पुरुषार्थ

भी सिद्ध हो सकेगा। आप कल्याण-लक्षण भासते हैं, इससे आपका कल्याण अवश्यम्भावी है।" इस प्रकार समाश्वासन दे दोनों मुनि इन दोनों को अपने आश्रम को ले गये। वहाँ राजकुमार सुन्दरसेन अपने मन्त्री दृढ़बुद्धि के साथ प्रतीक्षा कर रहने लगे।

इधर की बात यह है कि उनके दो मन्त्री भीमभुज और विक्रमशक्ति तैरते तैरते पृथक् पृथक् जाकर किनारे लगे। वे बड़े ही दुःखित हुए, पर उनके मन में एक यह आशा उत्पन्न हुई कि जैसे हम तैर कर पार हुए हैं वैसे ही कदाचित् राजकुमार भी तैर कर पार पहुँच गये हों। बस इसी से उन्हें खोजते खोजते महाटवी में बैठे। शेष उनके दो सचिव चण्डप्रभ और व्याघ्र-पराक्रम तथा राजा महेन्द्रादित्य उसी प्रकार समुद्र के पार हुए और सुन्दरसेन को ढूँढ़ने लगे परन्तु न पाकर अत्यन्त दुःखित और खिन्न हुए। उनका जहाज भी जैसा था वैसा ही बिना क्षति के उन्हें मिल गया सो वे उसपर आरूढ़ हो शशाङ्कपुरी को चले गये। यहाँ राजकुमार की सेना तो पहिले ही अवस्थित थी, दोनों मन्त्रियों से सारा वृत्तान्त सुन सारी सेना शोक-सागर में मग्न हो गई। अस्तु, दोनों मन्त्री चण्डप्रभ और व्याघ्रविक्रम सेना सहित अलकापुरी को चले।

सब लोग जब विलपते कलपते अलकापुरी में पहुँचे तिस समय पुरी आर्त्तनाद से गूँज उठी, सारी प्रजा राजकुमार की दैव दुर्घटना का वृत्तान्त सुन विकल हो रोने लगी। होते होते यह वृत्तान्त महाराज महासेन तथा महारानी के कानों में पहुँचा; पुत्र की एतादृशी गति सुन उनकी जो दशा हुई सो वर्णनातीत है, बस इतना ही समझना चाहिये कि उनके प्राण नहीं निकले और सब कुछ हो गया। आयुष्य रहते कोई कदापि नहीं मरता तो वे

क्यों कर मर सकते हैं। बस यही कारण है कि राजा रानी का प्राणान्त न हुआ। अब दोनों जनों ने यह सिद्धान्त किया कि जब पुत्र ही की यह गति हुई तो हम जी कर करेंगे क्या? इतना बिचार कर वे प्राण-त्याग पर उद्यत हो गये, पर उनके सचिवों ने नाना प्रकार के उदाहरण देकर सान्त्वनामय वचनों से आशा दिला किसी प्रकार उन्हें इस कार्य से निवृत्त किया। अस्तु, राजा अब नगर के बाहर शिवालय में रहने लगे और अपने पुत्र की अनुसन्धि लगाते हुए तपश्चर्या में लीन हुए।

उधर हंसद्वीप में महाराज मन्दारदेव को भी अपने दामाद तथा बेटी के समुद्र में पतन का वृत्तान्त ज्ञात हुआ; उनको यह भी ज्ञात हुआ कि जामाता के दो सचिव अलकापुरी में पहुँचे हैं तथा उनको इस बात का पता लगा कि महाराज महासेन दुःखद वृत्तान्त से व्याकुल हो राजकाज सब छोड़ छाड़ तपश्चर्या में लीन हो गये। तो वह भी अपनी दुहिता के शोक से अति कातर हो मरण पर उद्यत हुए किन्तु मन्त्रियों के समझाने बुझाने से उस व्यापार से विरत हुए। तब वह अपने मन्त्रियों पर राज्य का भार रख अलकापुरी में समदुःखी महाराज महासेन के समीप चले, साथ में उनकी महिषी देवी कन्दर्पसेना भी चलीं। उन्होंने अपने मन में निश्चय कर लिया था कि महासेन महीपति, पुत्र के वृत्तान्त का निश्चय कर जो कुछ करेंगे वही मैं भी करूँगा। उनको तो मन्दारवती का वृत्तान्त ज्ञात ही था, उधर महीश महासेन को पुत्र का वृत्तान्त विदित था सो दोनों जने समदुःखी मिलकर ऐसे शोकमग्न हुए कि उस समय करुणारस छा गया। बस, हंसद्वीपेश्वर भी अलकेश्वर के साथ वहीं रहकर तपश्चर्या में लीन हुए। परिमित शरीर-पोषण मात्र भोजन करते और कुश के आस्तरण पर शयन करते। इस प्रकार दैववश सब लोग तितर-बितर हो गये जैसे पवन के झकोरों से पत्ते कहीं के कहीं जा पड़ते हैं।

अस्तु अब उधर सुन्दरसेन राजकुमार का क्या वृत्तान्त था, उसका भी कुछ वर्णन होना चाहिये। दैवात् राजकुमार सुन्दरसेन मतङ्ग ऋषि के आश्रम के निकट जहाँ कि मन्दारवती थी, पहुँच गये। वहाँ क्या देखते हैं कि एक अति मनोहर तड़ाग लहरा रहा है, जिसका जल अति निर्मल, किनारे पर नाना रङ्ग के रसों के वृक्ष अपने फलों के भार से झुके हुए हैं जिनकी छाया से तट आच्छादित है। राजकुमार सुन्दरसेन चलते-चलते थक तो गये ही थे सो वहाँ अपने सखा दृढ़बुद्धि के साथ उतरे। तब दोनों जनों ने उसी तड़ाग के स्वच्छ जल में स्नान कर सुमधुर और स्वादिष्ट फलों का भक्षण किया। अब विश्राम करने के उपरान्त दोनों जने वहाँ से चले, और चलते चलते एक नदी पर पहुँचे। अब राजकुमार उसी वन-नदी के किनारे-किनारे चले तो आगे जाकर क्या देखते हैं कि शिवालय के समीप मुनि-कन्याएँ फूल चुन रही हैं। ऐसी भासती थीं कि फल तोड़ने के परिश्रम से वे व्यग्र हो गई हैं। उन मुनि-कन्याओं के मध्य एक अद्भुत लोकसुन्दरी दीख पड़ी जिसकी सुन्दरता का वर्णन क्योंकर किया जावे, उसकी कान्ति से समस्त वन जगमगा रहा था, मानों चन्द्रिका छिटकी हो। जिस ओर वह दृष्टि करती थी उसी ओर "जनु तहँ बरस कमल सित श्रयनी" की कहावत चरितार्थ हो जाती थी। जहाँ-जहाँ उस कोमलाङ्गी के चरण पड़ते थे वहाँ-वहाँ कमल वन मानों फैला जाता था।

उस ललनाललाम के अलौकिक सौन्दर्य के दर्शनों से राजकुमार सुन्दरसेन को बड़ा ही आश्चर्य हुआ सो वह अपने सचिव दृढ़बुद्धि से कहने लगे—"भाई दृढ़बुद्धि! यह कौन सुन्दरी है; क्या सहस्रनयन* के नेत्रों की आनन्ददात्री यह कोई अप्सरा

---

* इन्द्र।

तो नहीं है? अथवा पुष्पलग्नाग्र-करपल्लवा* वन-लक्ष्मी तो नहीं है? विधाता बहुत दिनों से दिव्याङ्गनाओं को बनाते-बनाते बड़े ही प्रवीण हो गये हैं इसी से ऐसा नूतन और अति अद्भुत रूप वह बना सके। मैंने अपनी प्राणेश्वरी मन्दारवती का जो चित्र देखा था सो यह उसी की अनुहार प्रतीत होती है, कदाचित् वही न हो। भला यह कब सम्भव हो सकता है? कहाँ वह हंस-द्वीप में और कहाँ यह वनान्तर! सो कुछ ज्ञात नहीं होता कि यह मनोरमा कौन है और कहाँ से इस जङ्गल में आई?" तब दृढ़बुद्धि उस वर कन्या को देख कर राजकुमार से कहने लगा—"देव! यह तो कोई अन्य ही प्रतीत होती है। देखिये न इसके हार, कर्धनी प्रभृति आभरण यद्यपि फूलों के ही बने हैं तथापि उनसे इसकी कैसी शोभा हो रही है। भला ऐसा रूप सौकुमार्य्य इस जङ्गल में कहाँ? सो यह या तो कोई अप्सरा हो, नहीं तो राज-कन्या हो, यह ऋषि-कन्या कदापि नहीं हो सकती। सो आइये क्षण भर कहीं खड़े हो कर देखें कि क्या होता है?" दृढ़-बुद्धि की ऐसी उक्ति सुन राजकुमार उठे और दोनों जने जाकर एक पेड़ की आड़ में छिप रहे।

उधर उन ऋषि-कन्याओं का फूल चुनना समाप्त हुआ और वे उस वरकन्या के साथ स्नान करने के निमित्त नदी में उतरीं और जल में कलोल करने लगीं। सब आनन्द से जल-क्रीड़ा में प्रवृत्त रहीं, कि इसी अवसर में एक ग्राह ने आकर उस वरकन्या की टाँग पकड़ ली, तब तो सब मुनि-कन्यायें भय के मारे अति व्याकुल हो गईं और आर्त्त-स्वर से चिल्लाईं कि हे वन-देवताओ! बचाओ, बचाओ! यह मन्दारवती निःशङ्क नदी में स्नान कर रही थी कि ग्राह ने आकर इसे पकड़ लिया, अब यह

*पुष्पों में जिसका कर पल्लव लगा है।

मरी। इतना सुनते ही राजकुमार सुन्दरसेन के मन में हुआ, कि क्या यह प्रिया मन्दारवती ही है, इतना सोच वह चट दौड़े और वहाँ पहुँच, छुरे से उस ग्राह का वध कर, मन्दारवती को तट पर निकाल लाये, मानो मृत्यु के मुँह से; और उसे समाश्वासन देने लगे, कि अब कोई चिन्ता नहीं है, धीरज धरो।

अब मन्दारवती भय से मुक्त हो उन सुभग राजकुमार अपने परित्राता को देख कर मन में विचारने लगी, कि यह कौन महात्मा मेरे भाग्य से आ गये, कि मेरे प्राण बचे। जो अलकानाथ के पुत्र प्राणेश्वर का चित्र देखा था, यह तो उन्हीं के अनुहार प्रतीत होते हैं। क्या यह वही तो नहीं हैं ? हा ! यह मैं क्या सोच रही हूँ ? परमात्मा ऐसा कभी न करें, कि वह ऐसे विदेश में आ पड़ें। अस्तु अब पराये पुरुष के समीप मेरा ठहरना उचित नहीं है सो यहाँ से चलना चाहिये। भगवान् इन महात्मा का कल्याण करें। इतना विचार कर मन्दारवती अपनी सखियों से बोली—"आओ सखियों ! इन महात्मा को प्रणाम करके चलें।"

राजकुमार सुन्दरसेन का मन तो सन्दिग्ध था ही, किन्तु नाम-श्रवण से सन्देह कुछ निवृत्त हुआ सो वह मन्दारवती की एक सखी से पूछने लगे—"हे शोभने ! मेरे मन में एक बड़ा कौतुक है सो तुम शान्त कर दो, कहो तो सही यह तुम्हारी सखी कौन हैं और किसकी यह बेटी हैं ?" उनके ऐसे वचन सुन वह मुनि-कन्या इस प्रकार कहने लगी—"महाभाग ! यह तो हंस-द्वीपेश्वर महाराज मन्दारदेव की पुत्री मन्दारवती हैं। राजकुमार सुन्दरसेन के साथ इसका विवाह स्थिर हुआ था, सो उन्हीं के निमित्त लोग इसे जहाज पर अलकापुरी को लिये जा रहे थे कि तरंगों में पड़ जहाज टूट गया और यह लहरों से

किनारे पर पहुँचा दी गई। मतङ्ग मुनि को वहीं मिली सो दयालु ऋषि इसे अपने आश्रम में लाये।"

इतना सुनते ही राजकुमार सुन्दरसेन तो एक साथ हर्ष और विषाद में मग्न हो गये और इधर उनका सखा दृढ़बुद्धि आनन्द के मारे नाचने और कहने लगा—"राजकुमार! आप धन्य हैं। देवी मन्दारवती आपको मिल गई, भला जिनके लाभ के लिये हम लोग अनेक मनोरथ बाँधते थे, वह स्वयं हमारे नेत्रों के समक्ष आगई।" तब उस सखी ने पूछा कि—"यह तुम क्या बड़बड़ा रहे हो? उसका ऐसा कथन सुन दृढ़बुद्धि साद्यन्त राजकुमार का वृतान्त सुना गया। तब तो सब मुनि-कन्याएँ उस सखी से समस्त वृतान्त जान कर राजकुमारी मन्दारवती को धन्य-धन्य कह कर आनन्दित करने लगीं। अब मन्दारवती और विरह न सम्भाल सकी, "हा आर्यपुत्र!" कह कर रोती हुई सुन्दरसेन के चरणों पर गिर पड़ी। सुन्दरसेन भी उसे गले लगा मुक्तकण्ठ रोने लगे। उस समय करुणा-रस वहाँ छा गया। उन का रुदन सुन करुणा से वहाँ के काठ और तिनके तथा पाषाण भी रोने लगे।

अब मुनि-कन्याओं ने जाकर महर्षि मतङ्ग से सारा वृत्तान्त कह सुनाया, सो वह चट पट यमुना के साथ वहाँ दौड़ आये। उन्हें देखते ही सुन्दरसेन उनके चरणों पर गिर पड़े और मुनि बहुत कुछ समझा बुझा कर सबको अपने आश्रम में ले गये। महर्षि ने उनका आतिथ्य किया और राजकुमार ने सब सोच त्याग विश्राम किया। दूसरे दिन महामुनि ने राजपुत्र से कहा— "पुत्र! मुझे किसी कार्य से श्वेत द्वीप को जाना है, सो तुम मन्दारवती के साथ अब अलकापुरी को जाओ, वहाँ इस राज-कुमारी के साथ विवाह करके पृथ्वी का धर्म से पालन

करियो। मैं इसको पुत्री के समान मानता हूँ, अब तुम्हारे हाथ में इसको दान करता हूँ। इसके साथ तुम बहुत दिनों तक इस वसुन्धरा का पालन करोगे और अति शीघ्र अपने और सब मन्त्रियों को पाओगे।" इतना कह मुनि मतङ्ग उनसे विदा हो अपनी कन्या यमुना के साथ, जो कि तपोबल में उन्हीं के समान थी, आकाश में उड़े और चले गये।

इसके उपरान्त राजकुमार सुन्दरसेन, मन्दारवती और दृढ़बुद्धि के साथ उस आश्रम से चले और चलते-चलते समुद्र के किनारे आ पहुँचे, सो क्या देखते हैं कि एक युवा वणिक् का छोटा जहाज निकट चला आ रहा है। इन्होंने सोचा कि जो हम इस पर चढ़लें तो मार्ग का सुभीता हो जायगा। इतना विचार उन्होंने दृढ़बुद्धि से पुछवाया कि भाई हम को भी चढ़ाते ले चलो तो बड़ी कृपा हो। वह वणिक् सम्मत हुआ और जहाज तीर पर ले आया, किन्तु मन्दारवती को देखकर वह कामदेव के वश में हो गया और उस के मन में पाप समाया। अब सुन्दरसेन ने अपनी प्रिया को उस जहाज पर चढ़ा दिया और ज्योंही कि वह स्वयं ही चढ़ा चाहते थे कि उस कामान्ध पर-स्त्री-लोलुप वणिक् ने मल्लाह को संकेत किया और जहाज वहाँ से आगे बढ़ा। राजकुमारी मन्दारवती हाहाकार करके रोने लगी और बात की बात में वह जहाज उनको लिये-दिये राजकुमार सुन्दरसेन की दृष्टि के बाहर हो गया।

"हा! धिक्! चोरों ने मूस लिया" इस प्रकार आर्त्तनाद से चिल्लाते हुए राजकुमार धड़ से पृथ्वी पर गिर पड़े और बहुविधि विलाप करने लगे। तब दृढ़बुद्धि उन्हें समझाने लगा—"राजपुत्र! उठिये, विकलता का त्याग कीजिये। यह आप क्या कायरों-सा व्यवहार कर रहे हैं। आइये हम भी उसी मार्ग से चलकर उस

चोर का पता लगावें। पण्डित लोग आपत्काल में तथा कष्ट के समय उत्साह का त्याग नहीं करते। इस प्रकार दृढ़बुद्धि से समझाये जाकर राजकुमार सुन्दरसेन किसी प्रकार धैर्य का अवलम्बन कर उठे और वहाँ से चले।

राजकुमार चले तो जाते थे परन्तु "हा देवि! हा मन्दारवती!" कह कर बार बार उसांस लेते और विलाप करते जाते थे। इस प्रकार प्रतिक्षण वह विरहाग्नि से जले जा रहे थे। आहार भी त्याग दिया केवल दृढ़बुद्धि उनका सहायक रहा। चलते थे तो जैसे कोई उन्मत्त हो, इसी प्रकार चलते चलते एक बड़े वन में पहुँचे। यहाँ पहुँचते ही उनकी दशा और भी हीनतर हो गई। अब तो अपने सखा की भी बात न सुनते थे। यहाँ तो उनका उन्माद और बढ़ गया और यह इधर-उधर दौड़ने लगे। जब कभी वह फूली लता देखते तो यह कहते—"अरे यह क्या पुष्पों के आभरणों आच्छादित मेरी प्रिया उस वणिक् चोर से छूट भागी है, ठीक वही है।" कमलों पर जब दृष्टि पड़ती तब कहते—"लो मेरी प्रिया उस दुष्ट के भय से सरोवर में डूब गयी, देखो न, मूँड़ निकाल कर मुझको देख रही है।" जब पत्र लताओं के बीच कोकिल का कूजन सुनते तब कहते कि क्या वह मञ्जुभाषिणी मुग्धा मुझसे कुछ कह रही है? इस प्रकार जितने पग आगे बढ़ते उतनी कल्पनाएँ करते जाते थे और पद-पद पर मोहित हो जाते, जिस प्रकार सूर्य का ताप तपाता है उसी प्रकार चन्द्रमा की किरणें भी अनुतापित करती थीं। रात दिन का भेद उन्हें कुछ भी बोध नहीं होता था, बराबर इधर से उधर घूमा करते।

इस प्रकार राजकुमार सुन्दरसेन उन्माद में चले जाते थे और एक मात्र दृढ़बुद्धि बेचारा उनके पीछे पीछे चला जाता था।

मार्ग तो भटक गये और चलते चलते एक महारण्य में जा पहुँचे जहाँ बड़े बड़े गैंड़े खाँग उठाये दौड़ते जिनसे कि वह अरण्य महा भयङ्कर प्रतीत होता था, सिंहों का वह वासस्थान जिनसे कि भय की अधिक वृद्धि होती थी। जैसे सेना भयङ्करी दृष्टि-गोचर होती है वैसे ही वह अटवी दीख पड़ती थी और ऊपर से दस्युओं की सेना का निवासस्थान। इस प्रकार उस आश्रय-हीन अरण्य में राजकुमार घूम रहे थे कि आयुध उठाये हुए पुलिन्दों ने आकर उन्हें घेर लिया। उस देश के राजा पुलिन्देन्द्र विन्ध्यकेतु की आज्ञा से भगवती दुर्गा के समक्ष बलि चढ़ाने के अर्थ पुरुष, पशुओं को ढूँढ़ रहे थे। विदेश में जाकर विरह का क्लेश, नीच से पराभव, अनाहार और मार्ग का सन्ताप इस प्रकार की चारों अग्नि में तो पड़कर राजकुमार भस्म हो ही रहे थे कि यह दस्युओं का धावा पाँचवों अग्नि हुई। अहो! मानों विधि ने राजपुत्र के धैर्य की परीक्षा के लिये इन सन्तापों का जोगाड़ कर दिया हो।

उन दस्युओं ने उन दोनों पर वाणों की झरी लगा दी किन्तु राजकुमार और दृढ़बुद्धि ने तलवारों से बहुतों की यथेष्ट पूजा की। जब राजा विन्ध्यकेतु को यह वृत्तान्त ज्ञात हुआ कि सब सेना काम आ गयी तब उन्होंने दूसरा दल उनके पकड़ने के लिये भेजा। उनमें से भी बहुतेरे चोरों को युद्ध-विद्या-विशारद राज-कुमार सुन्दरसेन ने यमलोक का पान्थ बना दिया। राजकुमार तथा उनका साथी दृढ़-बुद्धि लड़ते-लड़ते लस्त पस्त हो गये। कहाँ ये दो और वे अनेक, फल यह हुआ कि राजकुमार अपने वयस्य सहित आघातों से अति क्लान्त हो मूर्छित हो गिर पड़े और शवरों ने उन्हें बाँध कर ले जाकर कारागार में डाल दिया। कारागार का क्या वर्णन किया जाय, यहाँ भयंकर मृत्यु की मानों गुफा; चारों ओर जाल लगे हैं जिन पर साँपों की केचुलें

इतस्ततः लटक रही हैं; घुटनों धूल पड़ी है। मूसों के इतने बिल कि मानों वह स्थान बरों का छत्ता हो। इनके समान वहाँ और भी कई एक जन पड़े अपने भाग्य की परीक्षा कर रहे थे। वह स्थान ऐसा भयङ्कर था मानों समस्त नरकों की उसी से उत्पत्ति हुई हो। वहाँ पर राजकुमार ने अपने दो मन्त्रियों को जो कि पूर्व ही से वहाँ बाँध कर डाले गये थे, देखा। ये दोनों भीमभुज और विक्रमशक्ति थे। जब कि समुद्र से पार हो अपने प्रभु को ढूँढ़ते-ढूँढ़ते वे दोनों उस जंगल में पहुँचे थे कि पकड़ कर वहाँ डाल दिये गये थे। वे दोनों अपने प्रभु को पहचान कर उन के चरणों पर गिर कर रोने लगे। राजकुमार ने भी उन्हें उठा कर कण्ठ से लगा लिया और उनके नेत्रों से अश्रु की धारा बह चली। परस्पर दर्शन से उन लोगों का दुःख सौ गुना हो गया। इस प्रकार रोते हुए इन चारों जनों को और और लोग जो कि वहाँ उसी उद्देश्य से बन्द थे, समझाने लगे कि भाइयो! दुःख कर के क्या करोगे? उससे क्या होने का है? पूर्व कर्म का उल्लङ्घन कौन कर सकता है? देखो न हम लोगों की भी तो वही दशा है। हम सभों की मृत्यु एक साथ लिखी है। हम लोगों को पुलिन्देश्वर ने इसलिये पकड़ कर यहाँ रक्खा है कि आगामी चतुर्दशी को देवी के समक्ष हम लोग बलि चढ़ाये जावें। सो सोच कर के क्या होगा? समस्त जन्तु विधाता के खिलौने हैं जैसे चाहे वह खेले। विधि की गति बड़ी विचित्र है कौन उसका पार पा सकता है? सो जैसे उसने अभद्र से तुम लोगों को डाल रक्खा है वैसे ही वह तुम्हारा कल्याण करे। इस प्रकार उन बन्धनस्थ पुरुषों का सान्त्वनामय वचन सुन सबको कुछ-कुछ शान्ति हुई और सब अपने भाग्य का दिन गिनते वहीं पड़े रहे। हा! कैसे कष्ट की बात है कि आपत्तियाँ महापुरुषों को भी नहीं छोड़तीं।

अब चतुर्दशी आई और पुलिन्देश्वर ने अपने सेवकों को आज्ञा दी कि उन पुरुष पशुओं को ले आओ जिन्हें तुमने बन्दी कर रक्खा है, सो वे सब उपहार के लिये अम्बिका के मन्दिर में उपस्थित किये गये। अम्बिका का गृह क्या है मानों मृत्यु का मुख है, जहाँ दीपक की शिखा जो है सो लपलपाती जिह्वा है और घण्टियों की जो पंक्तियाँ हैं सो दाँतों की श्रेणियाँ हैं और मुण्डों की जो मालाएँ हैं उससे उसका आकार और घोर हो गया है। तब सुन्दरसेन ने अति नम्रता से भक्ति पूर्वक देवी को प्रणाम कर इस प्रकार स्तुति की:—

सोरठा।

घोर त्रिशूल प्रहार, जेहि से चूवत रक्त बहु।
कीन्हों असुर संहार, अभय दान देवन दियौ॥
अमृतदृष्टि बरसाय, दुःख दवाग्नी-दग्ध मोहि।
शीतल करु अब माय! नमो नमस्ते बार बहु॥

इस प्रकार राजकुमार स्तुति कर रहे थे कि पुलिन्दराट् विन्ध्यकेतु देवी की पूजा के लिये वहाँ आ विराजे। उस भिल्ल-राज को देखते ही राजकुमार ने लज्जा से अपना शिर नीचा कर लिया और अपने वयस्यों से धीरे से कहा—"भाइयो यह वही पुलिन्देन्द्र विन्ध्यकेतु है जो कि पिताजी के निकट उपायन लेकर उपस्थित हुआ करता है और प्रसाद में इस अटवी का भोग करता है। सो अब जो होना हो सो हो पर यहाँ हम लोगों को कुछ बोलना उचित नहीं है, मर जाना भला है किन्तु इस प्रकार अपना प्रकाश करना योग्य नहीं है।"

राजकुमार तो इस प्रकार अपने मित्रों से बात कर रहे थे कि इतने में विन्ध्यकेतु नें अपने सेवकों से कहा—"अरे योद्धाओं!

उस वीर महापशु को दिखाओ जिसने पकड़ते समय मेरे बहुतेरे वीरों का संहार कर डाला।" इतना सुनते ही भृत्यों ने सुन्दरसेन को, जिनके शरीर पर लहू के छींटे बने थे और घावों से तथा धूलि से जिनका शरीर धूसरित हो गया था, सामने ला खड़ा किया। उनको देखते ही पुलिन्देन्द्र कुछ पहिचान गया, इससे शंकित हो उसने पूछा कि कहो भाई तुम कौन हो और यहाँ क्योंकर आये हो? "जो मैं हूँ सो मैं हूँ, कहीं से आया इससे आपको क्या? आपको जो करना है सो कीजिये।" राजकुमार सुन्दरसेन ने भिल्लराज को ऐसा उत्तर दिया। अब तो उनकी बात-चीत से भिल्लराज को पूरा परिचय मिल गया और वह हाहाकार करके पृथ्वी पर गिर पड़ा, "हा महाराज महासेन! मुझ पापी ने आपके प्रसाद का यह कैसा उचित प्रतिफल दिया है कि आपके प्राण समान पुत्र को इस दशा में पहुँचाया। देव सुन्दरसेन यहाँ कैसे आये?" इस प्रकार कहते हुए विन्ध्यकेतु ने राजकुमार सुन्दरसेन को गले लगाकर अनेक प्रकार के विलाप किये। उसके विलाप सुन सबके नेत्रों से आँसू की धारा बह चली। अब तो राजकुमार सुन्दरसेन के वयस्यों के आनन्द का ठिकाना न रहा। उसने कहा-"भिल्लराज! इतना क्या बहुत नहीं है कि अनर्थ करने के पूर्व ही आपने इनको पहचान लिया। नहीं तो ऐसे अनर्थ के हो जाने पर फिर क्या हो सकता था? सो अब यह अवसर हर्ष का है, विषाद का नहीं है।" इस प्रकार भिल्लराज को सुन्दरसेन के मंत्रियों ने बहुत कुछ समझा बुझा कर शान्त किया। इतना सुनते ही पुलिन्दराज अति प्रसन्न हुआ और राजकुमार सुन्दरसेन के चरणों पर गिर पड़ा। उपरान्त उसने सुन्दरसेन के अनुरोध से सब पुरुष पशुओं को छोड़वाय दिया।

अब शवरेन्द्र विन्ध्यकेतु वयस्यों के सहित राजकुमार सुन्दरसेन को अपनी पल्ली में ले गया, वहाँ उसने उनके तथा उनके

मन्त्रियों के घावों पर पट्टियाँ बँधवा और उनकी नाना प्रकार की परिचर्यायें करवाईं। पीछे राजकुमार से उसने पूछा—"देव! आपका आगमन यहाँ क्योंकर हुआ? कृपा कर बतलाइये, क्योंकि मेरे मन में बड़ा कुतूहल है?" उसका ऐसा प्रश्न सुन राजकुमार सुन्दरसेन अपना वृत्तान्त साद्यन्त सुना गये। सुनते ही शबरेन्द्र का आश्चर्य और दूना हो गया और वह कहने लगा—"कहाँ मन्दारवती के निमित्त यात्रा और कहाँ समुद्र में गिरना, कहाँ मतंग ऋषि के आश्रम में पहुँचना और कहाँ उनसे वहाँ समागम! फिर कहाँ उस विश्वास-घाती बनिये से उनका अपहरण! कहाँ इस अटवी में आपका आना और कहाँ उपहार के लिये बाँधा जाना! फिर कहाँ हम लोगों का परस्पर पहिचान लेना और कहाँ मृत्यु के मुख से बच जाना! विचित्र विधि को बारम्बार नमस्कार है। सो आप अपनी कान्ता के लिये कुछ भी चिन्ता न करें क्योंकि जिस विधि ने जिस प्रकार यह सब किया वही आपका यह काम भी कर देगा।" पुलिन्देन्द्र इस प्रकार कह ही रहा था कि उसका सेनापति अति प्रसन्न दौड़ा हुआ उसके समीप आया और कहने लगा—"देव! इस अटवी में एक बड़ा धनवान् बनिया आया है, उसके साथ बहुत से लोग हैं। धन रत्नादि जो कुछ उसके पास है सो तो है ही किन्तु उसके साथ अत्यन्त रूपवती एक स्त्री भी है। जबकि मुझको उसका आना ज्ञात हुआ, मैं अपनी सेना लेकर उस पर दौड़ा और सब को बाँध कर ले आया, देव! वे सब बाहर खड़े हैं।" सेनापति की ऐसी उक्ति सुनकर राजकुमार सुन्दरसेन तथा विन्ध्यकेतु के मन में एक साथ ही यह बात आई और वे विचारने लगे कि कदाचित् यह वही बनिया न हो और यह स्त्री मन्दारवती न हो। अस्तु, शबरेन्द्र ने आज्ञा दी कि उस बनिये को और उस स्त्री को हमारे सामने लाओ। इतनी आज्ञा पाते ही चमूपति उस वणिक और

उस योषिता को भिल्लराज के सन्मुख ले आया। दृढ़बुद्धि उन दोनों को देखते ही बोल उठा—"अहो! यह तो वही देवी मन्दारवती हैं, और यह वही दुष्ट बनिया है। हा देवि! घाम की दही-लता के समान कि जिसके पुरुष रूपी आभरण त्यक्त हो गये और अधर पल्लव सूख गया, तुम किस दशा में पड़ गई हो?" इस प्रकार कहकर दृढ़बुद्धि बिलख रहा था कि राजकुमार ने दौड़कर झट अपनी प्रिया को गले लगा लिया। दोनों विरह सम्मिलन एक दूसरे को नेत्रों के जल से धोने लगे और बहुत देर लों रोते रहे।

अब विन्ध्यकेतु ने उन दोनों को बहुत कुछ समझा-बुझा कर शान्त किया। पश्चात् उस बनिये से कहा—"क्यों रे दुष्ट! तू ने विश्वासघात क्यों किया? भला इन्होंने तो तेरा विश्वास न किया था कि सकुशल इन्हें देश में पहुँचा देवेगा, इसी से पहिले अपनी धर्मपत्नी देवी मन्दारवती को चढ़ाया और तेरे मन में पाप समाया कि देवी को लेकर तू राक्षस भाग गया"। अब इस प्रकार तड़प पूर्वक उस शबरेन्द्र का कथन सुन वह बनिया काँपने लगा और गद्गद् बचनों से बोला—"हा! वृथा ही मैंने अपने नाश के लिये ऐसा किया। अरे! यह देवी तो स्वयं आत्मरक्षिणी हैं। इनका ऐसा अस्पर्श्य तेज है कि वह्नि की मानों प्रखर ज्वाला, कि मैं इन्हें छू भी नहीं सका। जब इन मनस्विनी का स्पर्श भी मैं न कर सका तो मुझ पापिष्ठ ने यह मन में ठाना कि अच्छा क्या चिन्ता अभी इसके मन में क्रोध भरा है यह समय टाल दिया जाय, अपने देश ले चलूँ वहाँ कुछ दिनों उपरान्त इनका क्रोध शान्त हो जायगा तो इनसे विवाह कर लूँगा।" इतना सुनते ही शबरेन्द्र ने आज्ञा दी कि इस दुष्ट का वध किया जाय, परन्तु महानुभाव सुन्दरसेन ने ऐसा नहीं होने दिया और कहा कि यह मारा न जाय, प्रत्युत, इसका समस्त धन छीन लिया जाय। बस उनके मुँह से इतना

निकला कि उस बनिये का सर्वस्व छीन लिया गया। ठीक कहा है "मुए मरत इकबार ही दिन दिन मरें धनहीन।"

इस प्रकार जब सुन्दरसेन ने उस दुष्ट बनिये को छुड़ा दिया तब वह इतना ही बहुत समझ कि चलो प्राण तो बचे, जहाँ जाना था चला गया। तब विन्ध्यकेतु शबरेन्द्र राजकुमार सुन्दर-सेन और राजकुमारी मन्दारवती को लेकर अपने अन्तःपुर में गया। और वहाँ अपनी महिषी से बोला कि स्नान अनुलेपन तथा वस्त्रादि से राजकुमारी की परिचर्या करो और स्वयं उसने राजकुमार को भी स्नान करवा नाना प्रकार के वस्त्र और अल-ङ्कारों से आभूषित किया और एक उत्तम आसन पर बैठा कर मुक्ता और मृगमद ❀ आदि से उनकी पूजा की। राजकुमारी और राजकुमार के समागम में उसने बड़ा उत्सव मनाया, नगर भर में उस दिन आनन्द मनाया गया और वाराङ्गनाओं का नाच हुआ।

अब राजकुमार सुन्दरसेन ने दूसरे दिन उस शबरेन्द्र से कहा– "भाई अब मेरे घाव भर आये और मनोरथ भी सिद्ध हो गया, सो अब आज्ञा हो तो हम अपने नगर को प्रस्थान करें, और आप एक काम कीजिये कि मेरे पिता के पास एक पत्र भेज कर उन्हें यह सूचित कर दीजिये कि मैं अपने मित्र-वर्ग और मन्दारवती के साथ आ रहा हूँ।" राजपुत्र की ऐसी उक्ति सुन शबरेश्वर ने उसी क्षण सन्देशा देकर एक दूत भेज दिया।

जिस समय कि शबरेन्द्र का दूत पत्र लिये हुए अलकापुरी में पहुँचा, उस समय वहाँ एक अद्भुत घटना उपस्थित थी कि महाराज महासेन और उनकी देवी अपने पुत्र का कुछ वृत्तान्त

❀ कस्तूरी।

न पा अति दुःखित हुए और अब उनकी आशा भी जाती रही कि पुत्र लौट कर आवेगा। सो वे दम्पति शिवालय के समक्ष अग्नि प्रवेश के लिये उद्यत थे। चिता लहलहा चुकी थी, केवल राजा-रानी के प्रवेश-मात्र का विलम्ब था। अपने राजा और रानी के लिये अति दुःखित हो सब प्रजा उन्हें घेर कर खड़ी थी। अब राजा और रानी अग्नि में प्रवेश किया ही चाहते थे कि उधर से दौड़ता हुआ वह शवर आ पहुँचा, उसका समस्त शरीर धूलि से व्याप्त था, हाथ में धनुष, लता की बँवर से शिर के केश बँधे थे, काला रङ्ग, कमर में बेलपत्र की लँगोटी धारण किये था। उसने चिल्लाकर कहा—"महाराज मैं शबरेन्द्र विन्ध्यकेतु का दूत हूँ। देव आप धन्य है कि आपके कुमार सुन्दरसेन मन्दारवती के साथ समुद्र पार हो अब आया चाहते हैं। वे हमारे प्रभु विन्ध्यकेतु के यहाँ उपस्थित हुए हैं और अब उनके साथ यहाँ आ ही पहुँचते हैं, मुझे उन्होंने पहिले ही भेज दिया कि आपको उनके आगमन की सूचना मिल जाय।" इतना कह उसने राजा के चरणों के समीप भिल्लराज की लिखी चिट्ठी रख दी।

राजा ने उठा कर पत्र जो पढ़ा तो शुभ सम्वाद सुनते ही चारों ओर से आनन्द-मेघ घिर आये, सब लोग जयध्वनि और आनन्दध्वनि करने लगे, महान् कलरव मच गया। सबके मुख पर उस समय प्रसन्नता छाय गई, महाराज ने शोक का त्याग किया और उस लेखहार ❀ का उचित सम्मान करके बड़ा भारी उत्सव मनाया। अब महीपति महासेन सब लोगों के साथ अपनी राजधानी में आये। उस दिन नगर भर में बड़ा उत्सव मनाया गया। अब तो राजा को यह पड़ी कि कब भोर हो और पुत्र की

❀ दूत।

अगवानी को हम लोग चलें। अस्तु आनन्द मङ्गल के साथ रात बीती और प्रातःकाल महाराज महासेन हंसद्वीपेश्वर के संग अपने आते हुए पुत्र की अगवानी के लिये चले। आगे आगे उनका चतुरङ्ग बल ❀ चला, सेना के भार से ऐसा भासता था कि पृथ्वी दबी जारही है और काँप रही है।

उधर राजकुमार सुन्दरसेन भी अपनी प्रिया मन्दारवती के साथ भिल्लपल्ली से प्रस्थानित हुए और साथ में उनके बन्धनागार में मिले दोनों मित्र विक्रमशक्ति और भीमभुज थे। दृढ़बुद्धि भी चला। राजकुमार वायुवेग वाले घोड़े पर आरूढ़ हुए संग में अपनी सेना के साथ शबरेन्द्र बिन्ध्यकेतु भी चला। उस समय धरित्री शबरमय दीख पड़ती थी, इस प्रकार सब लोग चले जाते थे। कुछ दिनों के उपरान्त राजकुमार सुन्दरसेन क्या देखते हैं कि पिता अपने परिजन और बन्धु बान्धवों के साथ आगे से आरहे हैं, पिता को देखते ही वह तुरङ्ग से झट उतर उनके पाँव पड़े। पूर्णचन्द्र समान पुत्र को देखते ही महाराज के हृदयाम्बुधि में उल्लास के तरंग उठने लगे, मानों आनन्द से वह फूले नहीं समाते थे। देखते हैं तो एक ओर पाँव पर पुत्र-वधू मन्दारवती पड़ी है, अब उनका आनन्द और दूना होगया। महाराज अपने को कृतार्थ मानने लगे और कुल के समस्त लोग आनन्दित हुए। पुत्र के दृढ़बुद्धि आदि तीनों मित्रों को देख कर वे और भी प्रसन्न हुए और विन्ध्यकेतु को साथ में आया और उसी के प्रसाद से ऐसा दुःसाध्य कार्य्य सिद्ध हुआ जान कर महाराज के आनन्द की अब तो अवधि न रही। महाराज ने सब लोगों को अभिनन्दन किया। पश्चात् महाराज महासेन ने राजकुमार सुन्दरसेन से कहा—"पुत्र ! यह तेरे श्वशुर मन्दारदेव

❀ हाथी, घोड़े, पैदल और रथी ये चार सेना के अंग हैं; बल = सेना।

हैं।" सो सुन्दरसेन उन्हें प्रणाम कर अति प्रसन्न हुए। चण्डप्रभ और व्याघ्रपराक्रम दो मन्त्री तो पहिले ही आ गये थे। सो राजकुमार के चरणों पर आ गिरे, उन्हें देख राजकुमार ने समझा कि बस-अब मेरे समस्त मनोरथ परिपूर्ण हो गये। शशाङ्कपुर के राजा महेन्द्रादित्य को भी यह शुभ सम्वाद ज्ञात हुआ सो अति प्रसन्न हो उधर से वह भी आ मिले। इस अवसर पर यही भासता था मानो चारों ओर से आनन्द उमड़ा चला आता है।

अब राजकुमार सुन्दरसेन उन लोगों के साथ उत्तम वाहन पर प्रिया सहित विराजमान नलकूबड़ जैसे रम्भा के साथ, उस अपनी अलकापुरी को चले जहाँ आठों सिद्धियाँ नवों ऋद्धियाँ सन्तत वास करती हैं और जिसमें अनेक पुण्यात्मा लोग निवास करते हैं। जिस समय कि उनका नगरी-प्रवेश हुआ, झरोखों और खिड़कियों पर से पुरवासिनी प्रमदाएँ लावा बरसाने लगीं। पहिले-पहिल राजकुमार अपनी माता के भवन में गये और जननी के चरणों पर गिरे। माता के नेत्रों में आनन्द के आँसू भर आये। माता के हृदय में उस समय जो आनन्द हुआ उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। अब सब कुटुम्ब के लोग तथा परिजन बटुर आये और मंगल-गान होने लगे। उस दिन नगर भर में बड़ा भारी उत्सव मनाया गया। राज-भवन के उत्सव का क्या पूछना।

परमात्मा की करनी, दूसरा ही दिन वह शुभ दिन था जिस दिन विवाह का शुभलग्न ज्योतिषियों ने बतलाया था। उस दिन बड़ा समारोह हुआ और बड़े उत्साह के साथ राजा मन्दारदेव ने अपनी कन्या मन्दारवती का कर-कमल राजकुमार सुन्दरसेन के कर-कमल में अर्पण किया; नरनाथ-पुत्र सुन्दरसेन जिस हाथ के लिये बहुत दिनों से लालायित रहते थे उसका आज ग्रहण किया। महीपति मन्दारदेव के कोई पुत्र था ही नहीं सो उन्होंने

अनेक बहुमूल्य रत्न अपने जामाता को दिये और यह भी कहा कि पुत्र ! मेरे शरीरान्त पर मेरा राज्य भी तुम्हारा ही होगा। राजकुमार के पिता महासेन महीपति ने अपने विभव और इच्छा के अनुसार आज हिरण्य और वस्त्रों की वर्षा लगा दी, ऐसा दान आपने आज किया कि लोग देखकर दङ्ग रह गये। यदि उनको आज समस्त वसुधा का वसु मिल जाता तो दान कर डालते। महाराज के राज्य में जितने बन्दी रहे आज सब छोड़ दिये गये। महाराज की बात तो निराली है कि जिस पुत्र का समुद्र-पतन सुन चुके थे वही अपना मनोरथ प्राप्त कर लौट आवे तो उनके हर्ष और आनन्द का क्या ठिकाना, किन्तु मन्दारवती के साथ विवाह कर कुमार सुन्दरसेन जो कृत-कृत्य हुए इस आनन्द में नगर भर डूबा रहा, नगर भर में घर-घर जागरण कर स्त्रियों ने मङ्गल-गान किये। इसके उपरान्त महाराज मन्दारदेव अपनी राजधानी के लिये प्रस्थित हुए, महाराज महासेन ने बड़े आदर-मान से उनकी विदाई की। शशाङ्कपुर के राजा भी अपनी राजधानी को चले और महाटवी का अधीश विन्ध्यकेतु भी प्रस्थानित हुआ। महाराज महासेन ने बड़े सत्कार और सम्मान के साथ सबको विदा किया।

कुछ दिनों के उपरान्त जब महाराज महासेन ने देखा कि मेरा पुत्र अपने राज्य के पालन में समर्थ हुआ और सारी प्रजा उन्हें प्रिय मानती है सो उन्होंने सर्व-गुण-सम्पन्न अपने पुत्र राजकुमार सुन्दरसेन को अलकापुरी के राज्यासन पर अभिषिक्त कर दिया और स्वयं वन को गमन किया। अब सुन्दरसेन देव महाराज हुए और अपने बाहुबल से अरि-मण्डल का विजय कर प्राणवल्लभा मन्दारवती के साथ मन्त्रियों सहित पितृवत् प्रजा का पालन करने लगे।

पाठ ३

जवानी की उमंगें

मनुष्य के जीवन में जवानी की उमर भी एक बड़ी बरकत है। फूल जब तक कि कली के रूप में रहता है, तब तक वह डाल और पत्तों की आड़ में मुँदा हुआ न जाने किस कोने में पड़ा रहता है, पर खिलने के साथ ही अपनी सुवास-सौन्दर्य और सोहावनेपन से सबों के नेत्र और मन-मधुप को अपनी ओर खींच लाता है और किसी तरह छिपाये नहीं छिप सकता। कली होने पर वह किस उठान से उठा था, तथा क्या-क्या उसमें गुन-औगुन थे, यह सब खिलने के साथ ही एकबारगी खुल पड़ते हैं; आगे को अब उससे क्या-क्या उम्मेद है, सो भी उसका इस समय का विकास प्रकट कर देता है। मनुष्यों में इसी बात को हम "उमंग" के नाम से पुकारते हैं, जो हम लोगों के भविष्य के आशा-बन्ध मज़बूत या ढीला करती है। "आत्मानं नावमन्येत" मनु की इस आज्ञा के अनुसार उन्नतमना तथा ऊँची तबियत वालों में उमंग सदा ऊपर को उठाने के लिये होती है; जघन्य, निकृष्ट, मलिन संस्कार तथा मैली तबियत के लोगों में पहिले तो उमंग उठती ही नहीं, और उठी भी, तो सदा नीचे गिरने की ओर होती है। नवयुवकों में ऊँची उमंग देख आशा-लता लहलहाती हुई नित्य दृढ़ होती जाती है; उनमें उस उमंग का अभाव या उसे नीचे की ओर जाते हुए पाकर आशा-लता सूख कर मुरझाई हुई ढीली पड़ जाती है। हम उत्तम श्रेणी में दाखिल हों, इसके लिये यत्न करना किसी ख़ास आदमी के हिस्से में नहीं आ पड़ा, वरन् हर एक आदमी को इसकी कोशिश करना मनुष्य-जीवन की सफलता का मुख्य कार्य है। वह नौजवान, जो ऊपर को नहीं देखता, निश्चय है, नीचे को

ताकेगा। उस तीर चलाने वाले का निशाना, जो अपनी बाण-विद्या से आकाश को बेध डालना चाहता है, कहाँ तक ऊँचे-से-ऊँचे पेड़ के ऊपर तक न जायगा। जिसके ऊँचे-से-ऊँचे ख़याल हैं या जिसका ऊँचे-से-ऊँचे बर्त्ताव का क्रम है, वह कहाँ तक अपने ख़याल और बर्त्ताव में उस आदमी से बेहतर न होगा, जिसमें उन बातों का अङ्कुर भी नहीं है। बोल-चाल और काम में कपट या कुटिलाई का अभाव मनुष्य में चरित्र-पालन के लिये पीठ की रीढ़ के समान सहारा है, और सचाई पर दृढ़ता तो मानों चरित्र का मुख्य अंग है। इसलिये ऊँची उमंग वाले युवक-जनों को चरित्र-पालन के इन दो प्रधान साधनों को दृढ़ता के साथ पकड़े रहना चाहिये। दूसरा बड़ा दोष नौजवानों में बनावट (Assumption) का है। जैसे बाज़ कीड़े न जाने कहाँ से पैदा हो फूल के विकास के पहले ही, जब वह कली रहती है, उसे नष्ट कर डालते हैं, वैसे ही इस बनावट का अंकुर नवयुवकों में तारुण्य के विकास के पहिले स्थान कर लेता है। हज़ारों-लाखों नौजवान इस तराश-ख़राश, बनावट-सजावट के पेच में पड़, दुर्व्यसनी हो बीस या पचीस वर्ष की उमर तक पहुँचने के पहले ही लोहे-ताँबे उतर चुकते हैं तथा जो समय उनके पूर्ण विकास का है, उसमें जरा-जर्जरित हो जाते हैं। इसलिये नई उमंग वालों को इस बनावट कृमि से अपने को बचाने के लिये बड़ी चौकसी रखना उचित है। किसी बुद्धिमान् गम्भीराशय का कथन है:—

'Always endeavour to be really what you would wish to appear.'

अर्थात् हमेशा इस बात की कोशिश करते रहो कि तुम अपने को लोगों में वैसा ही ज़ाहिर करो, जैसा तुम वास्तव में भीतर से हो। नौजवानों में नुमाइश का आना उमर का तक़ाज़ा और उनकी नई-नई उमंगों का एक अंग समझा जाता है, पर

उसका न आना बहुत बड़ा सौभाग्य समझना चाहिये। ज़ाहिर-दारी या नुमाइश को दूर रख कर जो उमंगें उठती हैं, वे नौजवानों के भविष्य जीवन में महोपकारी हो उसको महापुरुष (Great man) बना देने में सहकारी होती हैं। इस प्रकार की उमङ्ग से वह धीरे-धीरे चुपचाप अपने महत्त्व की आलीशान इमारत लगातार बनाता जाता है। कुँवार कार्तिक में जो शरत्-कालीन बादल उठते हैं, वे जितना गरजते हैं, उतना बरसते नहीं। पर बरसात में जो बादल आते हैं, वे इतना गरजते नहीं, पर बरस के वसुधा को सब ओर से जलमग्न कर देते हैं। वैसा ही ओछे-छिछोरे तड़क-भड़क बहुत दिखलाते हैं, पर करतूत बहुत कम उनमें देखी जाती है। किन्तु जो गुरुता-सम्पन्न होते हैं, वे मुख से कुछ नहीं कहते; बल्कि करके दिखला देते हैं।

"फलानुमेयाः प्रारम्भाः संस्काराः प्राक्तना इव।"
"करतूती कहि देत आप नहिं कहिये साँई।"
"गर्जति शरदि न वर्षति,
वर्षति वर्षासु निःस्वनो मेघः,
नीचो वदति न कुरुते,
न वदति सुजनः करोत्यवश्यम्।"

ये सब वाक्य ऐसों ही के लिये कहे गये हैं।

नौजवानी की उठती उमर ऐसे अल्हड़पन की होती है कि इस उमर में दूरन्देशी (Precaution) या पूर्वविधान बिलकुल नहीं रहता, बल्कि बुरी आदतें एक-एक करके पड़ती जाती हैं। जिस समय उन ख़राब आदतों का आना आरम्भ होता है, कुछ नहीं मालूम होता; जैसे पहाड़ों पर जब बर्फ गिरने लगती है, तब कभी किसी के ध्यान में भी नहीं आता, पीछे थोड़ा-थोड़ा

कर के जमा होते-होते वही हिम-संहति हो जाती है। तब सूरज की तेज़ गरमी भी उसे नहीं पिघला सकती। इसी तरह अल्हड़-पन की उमङ्ग में ख़राब आदतें जब आना शुरू होती हैं, तब उस पर बहुत ध्यान नहीं जाता, पीछे वही इतनी दृढ़ और बद्धमूल हो जाती हैं कि आमरणान्त—जन्म-भर के लिये दामनगीर हो जाती हैं; हज़ार-हज़ार उपाय उनके हटाने के किये जाते हैं, कोई कारगर नहीं होते। इस से जब तक गदह-पचीसी का यह नाज़ुक वक्त गुज़र न जाय, तब तक बड़ी सावधानी रखनी चाहिये। इस नाज़ुक वक्त में यदि भलाई का बीज न बोया जाय तो बुराई आप से आप आ जाती है, जैसे खेत, जिसकी धरती बहुत फल-वन्त और उर्वरा है, जोता-बोया न जाय तो लम्बी-लम्बी घास उसमें खुद-ब-खुद उपज जाती है—

"Vice quickly springs unless we goodness sow;
Rankest weeds in richest garden grow."

बुद्धिमानों का सिद्धान्त है कि आदत या बान पड़ते-पड़ते पीछे दृढ़ और बद्धमूल हो स्वभाव हो जाती है। योरुप के एक दार्शनिक का मत है कि "मनुष्य पाप या पुण्य आदि जो कुछ करता है, वह सब उसकी वैसी बान पड़ जाने का नतीजा है।" खुलासा यह कि स्वभाव से बहुत कम काम होते हैं, जो कुछ किया जाता है, वह सब आदत है। तो आदमी क्या है, मानो जुदी-जुदी तरह की आदतों का एक गट्ठर है। इसीसे यह कहावत चल पड़ी है "Habit is a second nature" अर्थात् आदत दूसरे तरह का एक स्वभाव है। इस कहावत का प्रमाण यह है कि यदि धैर्य, गाम्भीर्य, विचारशीलता, संयम आपकी आदतों में दाख़िल हो जायँ, तो छिछोरापन, टुच्चापन, साहस आदि से आपको चिढ़ हो जायगी। ऐसे ही जो ओछी-छिछोरी आदत का है, उसको संयमी, विचारवान्, गम्भीराशय काहे

को भले लगेंगे। एवं चुग़ली-चबाव, हेर-फेर, कुटिलाई इत्यादि जिसकी आदत में दाख़िल हो जाते हैं, उसको चैन नहीं पड़ती और अन्न नहीं पचता, जब तक वह किसी का कुछ चबाव या किसी की चुग़ली अथवा हेर-फेर की कोई बात न कर ले। तो नवयुवकों को सावधान रहना चाहिये कि बुरी आदतें उनमें क़दम न जमाने पावें, नहीं तो छुटाये न छूटेंगी।

ये सब गुण-अवगुण जिन्हें हमने ऊपर कहा है, प्रतिक्षण बड़े ज़ोर के साथ बढ़ते हुए आदमी के चरित्र को या तो शोभित करते हैं या उसे दग़ीला कर डालते हैं, जिससे वह अपने में चरित्र-पालन की शेष बातों को भी नहीं बचा सकता। जो सफेद कपड़ा पहने हुए है, वह कपड़ों के मैले होने के भय से जहाँ-तहाँ बैठते सकुचता है; जो मैला कपड़ा पहने हुए है, उसे क्या, वह जहाँ चाहे वहाँ बैठ सकता है—

"यथा हि मलिनैर्वस्त्रैर्यंय तत्रोपविश्यते;
एवं चलितवृत्तस्तु वृत्तशेषं न रक्षति ॥"

जैसे उजाला छोटे से छिद्र के द्वारा भीतर प्रवेश कर अन्धकार को दूर हटा देता है, वैसे ही आत्म-गौरव का अणु-मात्र ख़याल भी मनुष्यों को बुराई या बुरी आदतों की ओर से अलग करता है। जिनके आँख का पानी ढरक गया है और शरम और हिजाब को धो बैठे हैं, उन्हें नीचे-से-नीचा काम करने में संकोच नहीं रहता। नवजवानों में इसके नमूने बहुत से पाये जाते हैं। नई उमंग में बहुधा नव-जवान आत्म-गौरव का ध्यान न रख बड़ों की बड़ाई रखने में चूक जाते हैं, जिससे वे संसार में बदनाम हो अशालीन और धृष्ट की उपाधि पाते हैं। इसलिये बड़ों की बड़ाई रखना मानो अपना बड़प्पन बढ़ाना है।

पाठ ४

आत्मविश्वास

किसी ने कहा है कि यदि किसी में पर्वतों तक को हिला देने की शक्ति है, तो वह केवल आत्मविश्वास में ही है। संसार की सब प्रकार की शक्तियाँ केवल आत्मविश्वास से ही उत्पन्न होती हैं, हम चाहे कितना ही बड़े से बड़ा काम क्यों न करना चाहें, यदि हममें अपनी शक्ति पर पूरा-पूरा भरोसा है तो वह काम हम बहुत सहज में और अवश्य कर लेंगे। हम जिस काम के करने पर यह समझ कर तुल जायँगे कि इसे हम अवश्य ही पूरा कर लेंगे, तो फिर उसके पूरा होने में कोई शक्ति बाधा नहीं डाल सकती। सच तो यह है कि हममें जिस सीमा तक आत्म-विश्वास होता है उस सीमा तक हम कोई भी काम कर सकते हैं। जिसमें आत्मविश्वास की मात्रा जितनी ही अधिक होगी वह उतने ही बड़े और भारी काम कर सकेगा। भला जो आदमी यह समझ कर पहले से ही हिम्मत हार जाय कि यह काम मुझ से न होगा वह उस काम को क्या पूरा करेगा ?

यदि हम अपनी शक्तियों पर पूरा पूरा भरोसा करके किसी काम में लग जायँ और उस समय कोई व्यक्ति आकर हमसे कहे कि तुम इस काम में व्यर्थ लगे हो, तुमसे वह कदापि न होगा, तो हमें उस व्यक्ति को अपना पूरा-पूरा शत्रु ही समझना चाहिये। ऐसे आदमियों से हमें सदा दूर रहना चाहिये जो हमें उत्साहित करने के बदले उल्टे हमें निरुत्साहित करें। क्योंकि ऐसे ही आदमी हमें ऊपर चढ़ने से रोकते और नीचे की ओर ढकेलते हैं।

इस समय हमें मानव समाज की जो इतनी अधिक उन्नति दिखाई दे रही है वह केवल ऐसे ही महानुभावों के द्वारा हुई है जिनका आत्मविश्वास असीम और अमर्यादित था। जिस समय सारा संसार उनकी हँसी उड़ाता है, उन्हें कोई बड़ा काम करने के अयोग्य समझता है और उनके सत्साहस को दुस्साहस समझता हुआ उनकी निन्दा करता है, उस समय ऐसे लोग इन बातों की कुछ परवाह न करते हुए अपनी शक्तियों पर पूरा-पूरा विश्वास रखते हुए अपनी कल्पनाओं को मूर्त्त-स्वरूप देने का प्रयत्न करते रहते हैं और अन्त में पूर्ण रूप से सफल-मनोरथ होते हैं। यदि संसार में इस प्रकार के महात्मा न उत्पन्न हुए होते, तो सम्भवतः अब तक भी संसार अपनी उसी आरम्भिक अवस्था में, उसी जंगलीपन की हालत में दिखाई देता। आज की सी उन्नति का कहीं नाम भी न होता।

जब तक हम किसी प्रकार की सफलता की कामना न करें और अपने आप को उस सफलता के योग्य न बना लें, तब तक संसार की और कोई शक्ति हमें सफल नहीं बना सकती। सफल मनोरथ होने के लिये सबसे पहिले दृढ़ आत्म-विश्वास की आवश्यकता होती है। बिना आत्म-विश्वास के संसार में कभी कोई काम नहीं होता। संसार का कोई काम केवल संयोगवश ही नहीं हो जाया करता। हर एक काम के लिये नियम होता है और जब तक उस नियम का पालन न हो तब तक वह काम कभी पूरा नहीं हो सकता। प्रत्येक कार्य के लिये एक कारण की आवश्यकता होती है और वह कारण भी उतना ही बड़ा होना चाहिये जितना बड़ा कि कार्य हो। इसीलिये महान् सफलता का उद्गम भी महान् आशा और विश्वास में होता है। हमारी चाहे कितनी ही अधिक शिक्षा क्यों न हुई हो, हम में चाहें सब प्रकार के कितने ही अधिक गुण क्यों न हों; परन्तु फिर भी हमारी

सफलता कभी हमारे विश्वास से बढ़कर नहीं हो सकती। जो आदमी यह समझता है कि हम अमुक काम कर सकेंगे वही वह काम कर सकता है और जो आदमी यह समझता है कि हम से यह काम न हो सकेगा, उसके लिये वह काम सचमुच कभी न हो सकेगा। यह एक ऐसा नियम है जिसमें किसी प्रकार का अपवाद नहीं है।

लोग चाहे हमारे विचारों की हँसी उड़ावें और चाहे हमें हवाई क़िले बाँधने वाला समझें; परन्तु यदि हम में पूर्ण आत्म-विश्वास होगा तो हम क़िला बनाकर भी उन हँसने वालों को लज्जित कर देंगे; परन्तु यदि हममें अपने आप पर विश्वास ही न होगा, तो फिर हम क्या करेंगे? कुछ भी नहीं। ज्योंही हम अपने आप पर अविश्वास करते हैं, त्योंही मानो हम अपनी सारी शक्तियों का नाश कर बैठते हैं। चाहे हमारी सारी सम्पत्ति नष्ट हो जाय, हमारी तन्दुरुस्ती भी जवाब दे दे और संसार में कोई हमारा विश्वास न करे, हमें इन सब बातों की परवा न करनी चाहिये, क्योंकि जब तक हममें आत्म-विश्वास है, तब तक हम संसार में सब कुछ करके दिखला सकते हैं। संसार में न तो कोई ऐसी विपत्ति होनी चाहिये, जो हमारे आत्म-विश्वास को आघात पहुँचा सके। यदि हम अपने आप पर विश्वास रखते हुए सदा आगे बढ़ते रहेंगे, तो संसार आप से आप हमारे लिये मार्ग बनाने लगेगा।

एक बार कोई सिपाही एक पत्र लेकर नेपोलियन के पास गया। नेपोलियन के सामने पहुँचते-पहुँचते पत्र देने से पहिले ही उसका घोड़ा गिर पड़ा और मर गया। नेपोलियन ने वह पत्र पढ़कर उसका उत्तर लिखवाया और उस सिपाही को देकर कहा कि तुम अभी मेरे घोड़े पर सवार होकर जाओ और अभी

यह उत्तर पहुँचाओ। उस सिपाही ने नेपोलियन के घोड़े की ओर देखकर झिझकते हुए कहा—नहीं श्रीमान्, यह ऐसा बढ़िया घोड़ा मेरे चढ़ने योग्य नहीं है। नेपोलियन ने तुरन्त उत्तर दिया—संसार में कोई चीज़ ऐसी बढ़िया नहीं है जो एक फ्रान्सीसी सिपाही के योग्य न हो।

संसार प्रायः ऐसे ही लोगों से भरा हुआ है जो इस फ्रान्सीसी सिपाही की भाँति यही समझते हैं कि औरों के पास जो बढ़िया बढ़िया चीज़ें हैं हम उनके योग्य नहीं हैं, और यही कारण है कि उन बढ़िया चीज़ों के योग्य बहुत कम लोग निकलते हैं। परन्तु जो लोग अपने को अच्छी-से-अच्छी चीज़ के योग्य समझते हैं, वही वे चीजें प्राप्त भी कर सकते हैं। जब हम खुद ही अपने आपको बौना समझते हैं, तब हम देवों के से काम कैसे कर सकते हैं ? जब हम पहले से ही अपने आपको सब प्रकार से अयोग्य, असमर्थ और अभागा समझते हैं, तब हम क्योंकर योग्य, समर्थ और भाग्यवान् हो सकते हैं ? जो लोग संसार में बहुत बड़े काम कर सकने के योग्य होते हैं, वे भी अपने आपको अयोग्य और असमर्थ समझ कर केवल छोटे-मोटे कामों से ही सन्तुष्ट हो बैठते हैं और कभी कोई बड़ा काम नहीं कर पाते। वे अपनी शक्तियों का पूरा-पूरा उपयोग करना जानते ही नहीं, बल्कि यों कहना चाहिये कि वे अपनी शक्तियों से परिचित ही नहीं होते। भला ऐसे आदमी शक्ति रखते हुए भी उसका क्या उपयोग कर सकते हैं ? बल्कि हम तो यहाँ तक कह सकते हैं कि संसार में बहुत ही थोड़े लोग ऐसे हैं जो अपनी आधी शक्तियों से भी भली भाँति परिचित हों। बहुत बड़ी संख्या ऐसे ही लोगों की है, जो सब प्रकार की शक्तियाँ रखते हुए भी अपने आपको नितान्त अयोग्य और असमर्थ समझते हैं और फलतः अयोग्यों तथा असमर्थों

का सा जीवन व्यतीत कर के इस संसार से चले जाते हैं। इस प्रकार हम केवल अपनी ही हानि नहीं करते बल्कि सारे संसार की हानि करते हैं।

(जो आदमी अपने आपको मिट्टी समझता हो, उसका परिणाम कुचले जाने के सिवा और क्या हो सकता है? अपने आपको दुर्बल, अयोग्य और असमर्थ समझना ही दुर्बल तथा असमर्थ बनाना है। परन्तु जो व्यक्ति अपनी शक्तियों पर विश्वास रखता है, जो कठिन से कठिन कार्यों को भी अपने करने के योग्य समझता है, वह मानो अपने चारों ओर ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर लेता है, जो उसके सफल और विजयी होने के लिये परम अनुकूल होती हैं। अपने आपको कोई काम करने के योग्य समझना ही मानो वह काम आधे से अधिक कर डालना है।)

हम प्रायः लोगों को किसी के सम्बन्ध में यह कहते हुए सुनते हैं कि वाह-वाह उनका क्या कहना है। वे तो बड़े भाग्यवान् हैं। उनके सब काम आप से आप हो जाते हैं। वे अगर मिट्टी को भी छू दें तो वह सोना हो जाती है। पर वास्तव में किसी के सम्बन्ध में ऐसी बात केवल भाग्य से नहीं। इतने बड़े (भाग्यवान् होने के लिये मनुष्यों को विचारशील, दृढ़-प्रतिज्ञ और आत्म-विश्वासी होना पड़ता है। जो व्यक्ति किसी क्षेत्र में पहुँचने से पहले ही अच्छी तरह यह बात समझे हुए रहेगा कि मैं अवश्य सफल मनोरथ और विजयी होऊँगा, वह मानों सफल और विजयी होने की परिस्थितियों को अपने साथ लेकर चलता है। ऐसा आदमी स्वयं अपने आत्म-विश्वास से तो शक्ति प्राप्त करता ही है, अपने मित्रों और परिचितों से भी शक्ति प्राप्त करता है, क्योंकि उसके मित्र उसकी योग्यता और उसकी

कार्य-कुशलता से परिचित होते हैं और सदा सब प्रकार से उसे उत्साहित करते रहते हैं। फिर भला ऐसे आदमी के सफल मनोरथ और विजयी होने में सन्देह हो सकता है ? अब भी संसार के कई भागों में कुछ ऐसे जंगली पाये जाते हैं जो यह समझते हैं कि जिन शत्रुओं पर हम विजय प्राप्त करते हैं; उनकी सारी शक्ति हमारे शरीर में आ जाती है। एक तरह से यह बात बहुत ठीक है। संसार के प्रायः सभी क्षेत्रों और सभी कार्यों में यह बात देखी जाती है कि जब हम किसी एक काम में सफल होते हैं, तब हम में एक ऐसा उत्साह आ जाता है जो हमें उस से भी अधिक कठिन या बढ़िया काम करने के योग्य बना देता है। इस प्रकार हम ज्यों ज्यों काम करते जाते हैं, त्यों-त्यों हमारी शक्ति और योग्यता उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। इसलिये यदि जंगलियों का यह विश्वास हो कि हम जिन शत्रुओं पर विजय प्राप्त करते हैं उनकी शक्ति भी हम में आ जाती है, तो इसमें कुछ अनौचित्य नहीं है।

यदि हम कोई बड़ा काम करना चाहते हों तो हमें उचित है कि सब से पहले अपनी सारी विचारशक्ति, अपना सारा ध्यान, उसी बात पर जमा दें और अपने मन में इस बात का दृढ़ विश्वास कर लें कि हम यह काम अवश्य और बहुत सहज में कर लेंगे, तो हमारा यह विश्वास अवश्य फलदायक होगा; हमारे हाथ से वह काम अवश्य पूरा उतर जायगा। हमारी जितनी मानसिक और शारीरिक शक्तियाँ हैं, आत्म-विश्वास उन सबका सरदार है। वह स्वयं तो जो काम करता है वह तो करता ही है, हमारी सब शक्तियों में दूना और तिगुना बल पहुँचाता है। जब तक आत्म-विश्वास रूपी सेनापति आगे नहीं बढ़ता, तब तक और सब शक्तियाँ चुपचाप खड़ी उसका मुँह ताका करती हैं। पर जब आत्म-विश्वास अपना पूरा-पूरा काम करने लगता है,

तब बिलकुल दबी हुई शक्तियाँ भी उठ खड़ी होती हैं और आप से आप हमें ले चल कर सफलता तथा विजय तक पहुँचा देती हैं। जब आत्मविश्वास के कारण हम में साहस उत्पन्न होता है, तब हमारी कोई शक्ति ऐसी नहीं रह जाती जो अपना पूरा-पूरा काम न करती हो। आदमी तो खैर आदमी ही है, घुड़दौड़ का घोड़ा भी तब तक दौड़ में नहीं जीत सकता जब तक उसमें पूरा-पूरा आत्मविश्वास न हो।

सभी लोग किसी न किसी तरह काम करते हैं, पर उनमें से सफल मनोरथ होने वाले बहुत ही थोड़े होते हैं; अधिकाँश विफल होकर ही रह जाते हैं। इसका कारण यही है कि उनमें विचारों की दृढ़ता नहीं होती। विजयी वही होता है, जो यह बात अच्छी तरह समझ लेता है कि चाहे कुछ भी हो, मैं बिना विजय प्राप्त किये कभी चैन न लूँगा। एक प्रकार की ऐसी दृढ़ता, एक प्रकार का ऐसा विश्वास होता है, जो कभी पीछे हटना जानता ही नहीं। ऐसा ही विश्वास, ऐसी ही दृढ़ता मनुष्यों को बड़ी-बड़ी कठिनाइयों का सामना करके अग्रसर होने में समर्थ करती है। परन्तु जहाँ ज़रा भी अनिश्चय, ज़रा भी अविश्वास हुआ कि सारा काम चौपट हो जाता है। सफल और विफल, विजयी और पराजित में बस यही अन्तर है; जो देखने में तो बहुत थोड़ा जान पड़ता है, पर जिसका परिणाम बहुत अधिक बड़ा और व्यापक होता है। अतः जो लोग किसी काम में पूरी-पूरी सफलता प्राप्त करना चाहते हों, उन्हें सब से पहले विचारों और भावों में परिवर्तन करना चाहिये। उन्हें अपने मन में शङ्का, झिझक, अनिश्चय, अविश्वास आदि घातक बातों को बिलकुल निकाल देना चाहिये और अपने आप पर पूरा-पूरा विश्वास रखते हुए और सफलता की पूरी-पूरी आशा रखते हुए काम में लग जाना चाहिये। उस

समय वे देखेंगे कि सफलता कितनी जल्दी, कितना आप से आप उनके पास आ पहुँचती है। उस समय उन्हें आत्मविश्वास के इस शुभ परिणाम पर आश्चर्य होगा। वे समझ लेंगे कि हमें एक ऐसा मूल मन्त्र मिल गया है, जो सदा सब कार्यों में विजयी बन सकता है; फिर आशङ्का, सन्देह, अनिश्चय या अविश्वास उनके पास भी न फटक सकेगा।

हम जो कार्य वास्तव में सम्पादन करना चाहते हों, उसका आविर्भाव सब से पहिले विचार में होना चाहिये। यदि हम में अभिप्रेत या इच्छित वस्तु का ठीक-ठीक परिज्ञान हो और उसे प्राप्त करने की हम में बलवती कामना हो, तो हमारी सफलता का मार्ग बहुत कुछ परिष्कृत हो जाता है। यदि आरम्भ में हमारा विचार ही निर्बल होगा, तो उसकी पूर्ति क्या होगी? आज तक संसार में जितने बड़े-बड़े काम हुए हैं, वे प्रबल कामना और बलवती इच्छा के कारण ही हुए हैं। बड़े कामों में पहले चारों ओर से निराशा ही निराशा दिखाई देती है, कहीं किसी ओर प्रकाश का नाम तक नहीं दिखाई देता। परन्तु केवल बलवती कामना और प्रबल इच्छा के कारण उत्पन्न उत्साह और साहस से वे बड़े-बड़े काम अन्त में पूरे होकर ही रहते हैं। इसी के कारण लोग बड़े से बड़ा आत्मत्याग करने के लिये तैयार हो जाते हैं और जिन बातों का होना स्वप्न में भी असम्भव समझा जाता है, वही बातें प्रत्यक्ष रूप में कर दिखलाते हैं।

इसका कारण यही है कि हमारा विचार और हमारा विश्वास जैसा ही होता है, वैसे ही हम भी हो जाते हैं। (जिस आदमी में विश्वास की जितनी ही कमी होती है, उसे प्राप्ति भी उतनी ही कम होती है। पर जिसका विश्वास पूरा और दृढ़ होता है, उसी को अधिक प्राप्ति होती है। मतलब यही कि

विश्वास की मात्रा का सफलता की मात्रा के साथ बहुत ही घनिष्ठ सम्बन्ध है।

जो लोग अपने ही पुरुषार्थ और बाहु-बल से इस संसार में महान् हुए हैं, यदि उनकी जीवनियों और कार्यों पर भली भाँति विचार किया जाय, तो जान पड़ेगा कि आरम्भ से ही उनमें बहुत अधिक आत्मविश्वास था; उनमें अध्यवसाय भी बहुत अधिक था; वे अपनी धुन के पक्के थे और उन्हें अपनी योग्यता का पूरा भरोसा और सफलता का पूरा विश्वास था। उनकी मानसिक प्रवृत्ति दृढ़ता-पूर्वक उनके उद्देश्य या लक्ष्य की ओर लगी हुई थी और जो आशङ्काएँ तथा भय आदि साधारण योग्यता तथा विश्वास के लोगों को आगे बढ़ने नहीं देते थे, वे उनके पास तक नहीं फटकने पाते थे। यही कारण था कि ज्यों-ज्यों वे महात्मा आगे बढ़ते थे, त्यों-त्यों संसार आप से आप उनके लिये मार्ग बनाता जाता था।

जिन लोगों को हम किसी काम में बहुत अधिक सफलता प्राप्त करते हुए देखते हैं, उनके सम्बन्ध में हम और तो सैकड़ों हज़ारों तरह की बातें सोच जाते हैं, पर वास्तव में उनकी सफलता का जो मूल कारण होता है, उसकी ओर ध्यान ही नहीं देते। हम यह तो कहने लगते हैं कि वे बड़े भाग्यवान् हैं, बड़े चालाक हैं; यों हम बड़े-बड़े लोगों तक बहुत जल्दी पहुँच जाते हैं किन्तु, उनके गुणों की ओर हमारा ध्यान ही नहीं जाता। सफलता के लिये सबसे पहले कोई नई बात निकालने की आवश्यकता होती है, फिर उसके सम्बन्ध में निरन्तर विचार करना पड़ता है और तब अन्त तक उसके लिये दृढ़ता पूर्वक प्रयत्न करना पड़ता है। वास्तव में वे अपनी समस्त मानसिक शक्तियाँ उसी कार्य के सम्पादन में लगा देते हैं और अपनी सफलता का दृढ़ विश्वास रखते हैं। वे अपने मस्तिष्क में जिस पदार्थ का चित्र बनाते हैं,

उसे वे प्रत्यक्ष रूप में भी गढ़ कर दिखला देते हैं। बस, यह उनकी सफलता का मुख्य रहस्य होता है और इसी का हमें भी ध्यान रखना चाहिये।

हमें अपनी सफलता का विश्वास तो होना ही चाहिये, पर वह विश्वास अधूरा या अधकचरा नहीं होना चाहिये; बल्कि अधिक से अधिक जितना दृढ़ हो सकता हो उतना और हार्दिक होना चाहिये। सफलता में जितना ही सन्देह होता है, प्रयत्न में उतनी ही दुर्बलता आती है और फिर सफलता उतनी ही दूर हो जाती है। दृढ़ विश्वास ही सफलता की जान है। भीषण ताप ही धातुओं को गलाता है। इसी प्रकार पूर्ण अध्यवसाय और दृढ़ विश्वास ही कठिन से कठिन कार्य सिद्ध करता है। जिस काम में पूरी तरह से जी नहीं लगता, वह कभी पूरा नहीं होता। समाज में साधारण कोटि के लोगों की संख्या इसीलिये अधिक है कि अधिकांश लोग पूरा जी लगा कर कोई काम नहीं करते। उनका निश्चय और प्रयत्न दोनों ही अधूरे और बेदम होते हैं और इसीलिये उनको कभी पूरी और ठीक सफलता नहीं होती।

सफलता के लिये ऐसे दृढ़ निश्चय की आवश्यकता है, जो कभी पराङ्मुख या पराजित होना जानता ही न हो। ऐसा निश्चय मनुष्य को सदा आगे ही बढ़ाता चलता है और चाहे कितनी ही जोखिम क्यों न सहनी पड़े, उसे कभी पीछे नहीं हटने देता। जब किसी मनुष्य का अपनी शक्ति और योग्यता पर विश्वास नहीं रह जाता, तब वह सफलता के लिये पूरा प्रयत्न करना छोड़ देता है और उसका प्रयत्न अधूरा रह जाता है। उस समय उसकी ओर तो कोई सहायता की नहीं जा सकती, यदि कुछ किया जा सकता है, तो केवल यही कि उसमें फिर से आत्मविश्वास उत्पन्न किया जाय और उसके मस्तिष्क से यह विचार निकाल दिया जाय कि सब काम भाग्य या

संयोग से होते हैं, और उसके मन में यह बात बैठा देनी चाहिये कि सफलता पूरा-पूरा प्रयत्न करने से ही होती है; ईश्वर ने उसे केवल भाग्य या संयोग पर निर्भर नहीं रक्खा है। उसे यह बात अच्छी तरह समझा देनी चाहिये कि यदि भाग्य कोई चीज़ है, तो तुम उससे भी बढ़ कर कुछ हो; बल्कि तुम स्वयं उस भाग्य के विधाता हो। उसे समझा देना चाहिये कि स्वयं तुम में ही एक ऐसी शक्ति है; जिसका मुक़ाबिला कोई बाहरी शक्ति नहीं कर सकती। बस जब उस आदमी में इतनी दृढ़ता, इतना साहस और इतना विश्वास आ जायगा, तब उसके सब काम आपसे आप होने लग जायँगे और उसके मार्ग की कठिनाइयाँ आपसे आप दूर होने लगेंगी।

हममें जिस बात की जितनी ही अधिक लगन होगी, जिस काम के लिये हम जितने ही अधिक तन्मय होंगे, वह बात—वह काम हम उतना ही अधिक, उतना ही उत्तम और उतना ही सहज में कर लेंगे। हम नीचे की ओर देखकर अपने आपको और नीचे गिरा देते हैं। हमें सदा ऊपर की ओर—सदा आगे की ओर, अपनी दृष्टि रखनी चाहिये। तभी हम आदर्श, उच्चता और महत्ता तक पहुँच सकते हैं। जो व्यक्ति दृढ़तापूर्वक कार्यसिद्धि की ओर अग्रसर होता है, वह सफलता तक नहीं पहुँचता; बल्कि स्वयं मूर्त्तिमान सफलता हो जाता है, फिर उसे बाहर से सफलता प्राप्त करने को नहीं रह जाती। वह स्वयं ही अपने आप में से सफलता का निर्माण कर लेता है। यही सफलता का मूल मन्त्र और यही मुख्य रहस्य है। इसे हृदयङ्गम कर लेने पर कभी विफल या निराश होने की नौबत नहीं आती। ऐसा व्यक्ति स्वयं एक प्रकाश बन जाता है और जहाँ प्रकाश हो, वहाँ अन्धकार का प्रवेश क्यों कर हो सकता है?

जो काम देखने में असम्भव या बहुत कठिन जान पड़ता हो, यदि वही काम कोई आदमी साहसपूर्वक करने लग जाय और साथ ही उसे सफलता का पूर्ण निश्चय भी हो, तो इससे यही सिद्ध होता है कि उस आदमी में कार्य करने का कोई बहुत बड़ा गुण अवश्य है और वह काम करने के योग्य है। काम करने के लिये इसी गुण की सबसे अधिक आवश्यकता होती है। जिसमें यह गुण होगा, वह अन्यान्य बड़े-बड़े गुणों के न होने पर भी कठिन से कठिन काम कर ले जायगा। परन्तु यदि उसमें यही मूल गुण न होगा, तो फिर चाहे उसमें और कितने ही बड़े गुण क्यों न हों, पर प्रायः उसे विफल मनोरथ ही होना पड़ेगा। वह आत्मविश्वास ही है, जो मनुष्य में ईश्वरीय गुण और ईश्वरीय शक्ति उत्पन्न करता है। अपने आप में सामर्थ्य और बल आदि का अनुभव करना मानो अपने आपमें ईश्वरीय शक्ति का अनुभव करना है और जब मनुष्य में ईश्वरीय शक्ति आ जाय तो फिर उसके लिये कोई कार्य असम्भव नहीं रह जाता।

जिस कोलम्बस ने अमेरिका का पता लगाया था, वह आत्मविश्वास को मानो प्रत्यक्ष मूर्त्ति था। स्पेन के राजमन्त्री उसकी हँसी उड़ाया करते थे और उसके विचारों तथा बातों में उन्हें पागलपन का भान होता था। यदि वह उन लोगों के हँसी उड़ाने पर ध्यान देता तो कम से कम उसे तो अमेरिका का पता लगाने का सौभाग्य प्राप्त न होता; फिर उसके बाद और कोई चाहे लगाता या न लगाता। पर नहीं वह अपनी धुन का पक्का था और उसे अपने आप पर पूरा-पूरा भरोसा था। वह अच्छी तरह जानता था कि मैं जो कुछ सोचता या समझता हूँ, वह बहुत ठीक है और उसे मैं पूरा-पूरा कर दिखलाऊँगा। वह एक छोटे से जहाज पर सवार होकर अज्ञात समुद्र में चल पड़ा। उसके साथी मल्लाहों ने उसका बहुत विरोध किया और घर लौट चलने

के लिये बहुत ज़ोर दिया; परन्तु वह उन लोगों की बातों में नहीं आया। वह एक ख़ास काम के लिये घर से निकला था। वह समझता था कि मैं यह काम अवश्य करूँगा और इसीलिये वह बिना काम किये घर नहीं लौट सकता था। मल्लाहों तथा दूसरे साथियों ने विद्रोह किया और उसे चुपचाप उठाकर समुद्र में फेंक देने तक का विचार किया, परन्तु वह बराबर आगे बढ़ता गया और नित्य प्रति अपनी डायरी में यही लिखता गया कि आज हम अपने रास्ते पर पश्चिम की ओर बढ़े और अन्त में उसके इस दृढ़ निश्चय का जो परिणाम हुआ, उससे सारे संसार की काया पलट गई।

यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो इस प्रकार के सैकड़ों-हज़ारों महापुरुष मिलेंगे, जिन्होंने केवल अपने अध्यवसाय, दृढ़ निश्चय और आत्मविश्वास के भरोसे ही संसार में असम्भव समझी जाने वाली सैकड़ों हज़ारों बातों को सम्भव कर दिखलाया और इस प्रकार सिद्ध कर दिया कि दृढ़ निश्चय और आत्मविश्वास के सामने संसार में कोई बात असम्भव नहीं है। कोई ऐसा आविष्कारक, कोई ऐसा धर्मप्रवर्तक, कोई ऐसा वीर, कोई ऐसा महापुरुष नहीं हुआ, जिसमें दृढ़ निश्चय और आत्मविश्वास न हो। सच तो यह है कि बिना इन दोनों बातों के मनुष्य में महत्त्व आ ही नहीं सकता। वह किसी प्रकार बड़ा बन ही नहीं सकता। यही बातें ऐसी हैं, जो अन्त में मनुष्य को पूर्ण सफल और विजयी बना कर छोड़ती हैं। वास्तविक बात यह है कि महत्ता तो ईश्वर स्वयं ही हममें भर देता है, पर हम उस पर उचित ध्यान नहीं देते और ज़बरदस्ती अपने आप में अयोग्यता और तुच्छता आदि का आरोप करके अयोग्य और तुच्छ बन जाते हैं। परन्तु यदि हम अपने विचारों को कुछ और प्रशस्त करें, अपनी दृष्टि कुछ और विस्तृत करें, तो अनायास ही हम उन गुणों से अलंकृत

हो सकते हैं, जो किसी वीर या महापुरुष में पाये जाते हैं। यदि हम नीचे की ओर देखना छोड़कर ऊपर की ओर देखना आरम्भ करें तो अवश्य ही उस स्थान पर पहुँच सकते हैं, जहाँ महत्ता के सिवा और कुछ है ही नहीं।

यदि मनुष्य की अवनति का कोई सब से बड़ा कारण है, अथवा हो सकता है, तो वह एक ही कारण है, और वह कारण है, अपना ठीक-ठीक महत्त्व न समझना, अपने आपको स्वयं अपनी नज़रों में गिरा देना। अपने आपको अयोग्य समझने से बढ़कर मूर्खतापूर्ण विचार संसार में और कोई नहीं हो सकता। क्योंकि जो आदमी खुद ही यह समझता हो कि अमुक कार्य मुझसे नहीं हो सकेगा, उस आदमी से वह कार्य संसार की और कोई शक्ति नहीं करा सकती। सब से पहले आत्मविश्वास को मार्ग-प्रदर्शन करना पड़ता है। तब उसके पीछे-पीछे और शक्तियाँ चलती हैं। यदि हम अपने लिये पहले ही बहुत संकुचित सीमा निर्धारित कर लें, तो फिर उस सीमा से आगे बढ़ने का हमें और अधिकार ही नहीं रह जाता। इसलिये हमें अपना उद्देश्य अधिक से अधिक आगे बढ़ा ले जाना चाहिये। जिससे हमें आगे बढ़ने के लिये बराबर स्थान मिलता रहे और कहीं पहुँच कर रुकना न पड़े।

हम यह बात मानते हैं कि किसी व्यक्ति के लिये अपने आपको बहुत बड़ा समझना और अपने मन में ऊँची से ऊँची कल्पनाओं को स्थान देना बहुत ही कठिन है। परन्तु उससे भी बढ़कर कठिनता तो यह है कि बिना ऐसा किये वह कभी महान् वीर और विजयी हो ही नहीं सकता। मनुष्य जब तक ऊँची बातों की कल्पना न करे और उन बातों को कार्यरूप में परिणत करने के लिये अपनी योग्यता और बल पर पूरा-पूरा भरोसा न रक्खे, तब तक वह आगे बढ़ ही नहीं सकता। सब से

पहले स्वयं महत्त्वाकाङ्क्षी होना ही योग्यता का एक बहुत बड़ा प्रमाण है और यदि साथ में यह भी विश्वास हो कि हम अपनी आकाङ्क्षा अवश्य पूरी कर लेंगे, तो फिर उसकी योग्यता में और किसी बात की कसर ही नहीं रह जाती। जिस परमात्मा ने हम में उच्चाकाङ्क्षाएँ उत्पन्न की हैं, उसने साथ ही उनकी पूर्ति के साधन भी हम में रख दिये हैं। उसने हमें व्यर्थ इधर उधर टक्करें मारने के लिये नहीं पैदा किया है; बल्कि किसी विशेष उद्देश्य की पूर्ति के लिये उत्पन्न किया है। अतः हमें सदा यह विश्वास रखना चाहिये कि हम में उस उद्देश्य की पूर्ति की सामर्थ्य भी अवश्य है। तभी हम वास्तव में उस उद्देश्य की पूर्ति भी कर सकते हैं और अपना जन्म तथा ईश्वर का प्रयत्न दोनों सफल कर सकते हैं।

हमारे जीवन में जितनी घटनाएँ होती हैं अथवा जितने कार्य होते हैं, उन सबका कारण हम में उपस्थित रहता है। हमीं से सब कार्य निकलते हैं। जहाँ जो चीज़ पहले पहल दिखलाई पड़ती है, वह वहीं से उत्पन्न होती है। हम जिस बात की कामना करते हैं और जिसके लिये प्रयत्न करते हैं, वही काम हम से होता है। हम में एक ऐसी शक्ति होती है, जो उस बात या कामों को आप से आप आकृष्ट करके हम तक पहुँचा देती है। अतः यदि हम किसी व्यक्ति को किसी क्षेत्र में बहुत अधिक सफलता प्राप्त करते हुए देखें, तो हमें समझ लेना चाहिये कि उसने उसी सफलता का विचार किया है, उसी के लिये प्रयत्न किया है, उसी के लिये अपने आपको योग्य समझा है और उसी के लिये अपने आपको समर्थ बनाया है। उसने जो पद या मर्यादा आदि प्राप्त की है, वह स्वयं उसके विचारों और प्रवृत्तियों का फल है। इसलिये अपने देश के नवयुवकों को हम सब से पहले और सब से बड़ी यही सलाह देंगे कि अपने आप पर जहाँ तक

अधिक हो सके, विश्वास करो अर्थात् उन्हें सबसे पहले इस बात का पूरा-पूरा विश्वास रखना चाहिये कि अपने भाग्य के विधाता और निर्माता हम स्वयं हैं। उन्हें समझ लेना चाहिये कि हम में एक ऐसी अलौकिक और अपूर्व शक्ति है, जिसे यदि हम जाग्रत करके काम में लगा सकें तो हम जो काम चाहें, वही पूरा कर सकते हैं। जब वे यह तत्त्व भली भाँति समझ लेंगे, तब उन का जीवन भी श्रेष्ठ हो जायगा और वे सब प्रकार से सफल तथा सुखी भी हो जायँगे। संसार में विश्वास ही एक ऐसी चीज़ है, जो हमारे लिये सुख, समृद्धि, सुनाम और सफलता का द्वार खोल सकती है। उसी के द्वारा हम में अजय बल आ सकता है और उसी के द्वारा हम उन भाग्यवानों में परिगणित हो सकते हैं, जिनके स्पर्शमात्र से मिट्टी भी सोना हो जाती है। उसी के द्वारा मनुष्य में एक ऐसा तेज उत्पन्न हो जाता है, जो उसके चारों ओर पूर्ण प्रकाश करने के अतिरिक्त उसके मार्ग में पड़ने वाली विघ्न-बाधाओं को तिनके की तरह जला देता है। उसी के द्वारा उसे अपूर्व दिव्य दृष्टि प्राप्त होती है, जिसकी सहायता से वह ऐसी ऐसी चीजें देख सकता है, जो किसी और प्रकार दिखाई ही नहीं पड़ सकतीं। जब उस आत्म-विश्वास के कारण हमें वे चीजें दिखलाई पड़ने लगती हैं, तब हम सब बातों का विचार छोड़कर उन्हें प्राप्त करने के लिए अग्रसर होते हैं और अन्त में उन्हें प्राप्त करके ही विश्राम लेते हैं। बल्कि उन चीज़ों के प्राप्त हो जाने पर भी हम विश्राम नहीं लेते। क्योंकि उस समय हमें उनकी अपेक्षा और भी महत्त्व की तथा सुन्दर चीजें दिखलाई देने लगती हैं और तब हम उन्हें प्राप्त करने लग जाते हैं। तात्पर्य यह है कि उस समय हम एक ऐसे मार्ग पर पहुँच जाते हैं कि जिसमें निरन्तर आगे ही बढ़ते जाते हैं और हमारे रुकने या पीछे मुड़ने की कोई सम्भावना ही नहीं रह जाती। यही जीवन का वास्तविक

पथ होता है और प्रत्येक समझदार आदमी को इसी का पथिक बनना चाहिये। इसी पथ के पथिकों ने बड़े-बड़े पहाड़ काट कर फेंक दिये हैं, विकट नदियों पर पुल बाँधे हैं, समुद्र के नीचे सुरंगें खोदी हैं और शून्य आकाश में चलने के लिये भी वैसा ही दृढ़ मार्ग बनाया है जैसा कि घन पृथ्वी पर मिलता है।

विश्वास कभी धोखा नहीं देता। वह सदा जादू का सा काम करता है। बन्धन, बाधाएँ और सीमाएँ उसके सामने कोई चीज़ नहीं हैं। आगे बढ़ने और उन्नति करने का उससे बढ़कर कोई साधन नहीं है। वही सकल सिद्धियों का दाता है और वही समस्त सौभाग्य का स्रष्टा है। उसी का ध्यान करो, उसी का चिन्तन करो और उसी को प्राप्त करने का प्रयत्न करो। तुम्हारी सारी कामनाएँ पूरी होंगी। तुम्हारा यह लोक भी सुधरेगा और परलोक भी। फिर तुम्हें संसार में उससे बढ़कर और कोई चीज़ दिखलाई ही न पड़ेगी।

—श्री बाबू रामचन्द्र वर्मा

पाठ ५

मानसिंह-जोधपुर

लूनी नदी के पार होते ही हम लोग रेतीले मैदान में पहुँचे। क्रम से बालू बढ़ती गई। जितना-जितना हम मरुक्षेत्र की राजधानी के निकट होते गये, उतना ही उतना बालू का ढेर कष्ट-दायक मालूम होने लगा; किन्तु हमारे अनुचर लोग गङ्गा-तट के समतल क्षेत्र में जितनी शीघ्रता से चल सकते हैं, इसी प्रकार मारवाड़ी लोग इस बालुका-पूर्ण क्षेत्र में बिना कुछ कष्ट के शीघ्रता से आते जाते हैं। राजा जोध का नगर कैसा है, उस कष्ट-साध्य वर्णन-

युक्त पाठ के बदले, साधारण दृश्य पर दृष्टि डालने से पाठक मण्डली सहज में ही उस राजधानी की असली मूर्त्ति की कल्पना नेत्रों के सम्मुख लाने में समर्थ होगी। दुर्ग चारों ओर से कुछ उठी हुई शिखरमाला के बीच में समतल स्थान में बना हुआ है, इस कारण वह निकट के सब स्थानों से ऊँचा और स्वतन्त्र भाव से स्थित है। जिस स्थान पर दुर्ग बना हुआ है, वह तीन सौ फुट से अधिक ऊँचा नहीं है, इस कारण इसको पर्वत दुर्ग नहीं कह सकते; किन्तु मरुक्षेत्र में इतना ऊँचा दुर्ग अवश्य ही विचित्र दृश्य है। इसकी लम्बाई साढ़े बारह कोस तक है और जहाँ तक मैंने दृष्टि डाल कर देखा है, उससे अनुमान होता है कि इसकी चौड़ाई एक कोस से अधिक नहीं है। राजधानी दक्षिण की ओर सब से ऊँचे स्थान पर है। उत्तर प्रान्त के जिस सबसे ऊँचे स्थान पर राज-महल बना हुआ है, उसकी ऊँचाई तीन सौ फुट है। स्थान सब तरफ ढालू है। विशेष करके १८०६ ई० में जिस समय सम्मिलित सेवा-दल ने जिस स्थान पर गोले बरसाये थे, तब से वह स्थान टेढ़ा होकर केवल एक सौ बीस फुट ऊँचा रह गया है। अभेद्य महल-श्रेणी और बीच-बीच में गोल और चौकौने असंख्य बुर्जों के शिखर के चार कोस का व्यास दृढ़ता के साथ संरक्षित है। नीचे से ऊपर की ओर जो टेढ़ा मार्ग गया है, वह सात प्राकार और बहुत तोरणों से घिरा हुआ है। प्रत्येक परकोटे के द्वार पर अलग अलग सैनिक पहरे वाले रक्षा करते रहते हैं। इन सब परकोटों में दो सरोवर हैं। पूर्व की ओर के जलाशय का नाम "रानी-सरोवर" और दूसरा "गुलाब-सागर" के नाम से विख्यात है। गुलाब-सागर दक्षिण की ओर है और दुर्ग के सैनिक अपने-अपने व्यवहार के लिये उससे जल लाते हैं। इन सब परकोटों के बीच में एक कुण्ड भी है; यह पर्वत खोद कर बनाया गया है और नव्वे फुट गहरा है। उपर्युक्त दोनों

सरोवरों से जल लाकर यह कुण्ड भरा गया है। यद्यपि भीतरी भाग के स्थान-स्थान में बहुत से कूप हैं, किन्तु उनका जल शुद्ध नहीं है। अगणित महल और छोटे-बड़े मकानों से उसका भीतरी भाग परम रमणीय है। प्रत्येक राजा ने अपनी-अपनी महल निर्माण की रुचि स्मरण-चिन्ह-रूप से ही मानों एक-एक महल बनवा दिया है, इस कारण महलों की आकृति क्रम से बढ़ती चली गई है। दुर्ग के पश्चिम-प्रान्तवर्त्ती राजधानी तीन कोस तक अभेद्य परकोटे से वेष्टित है, और परकोटे में एकसौ एक बुर्ज लगे हैं, तथा परकोटे के ऊपर 'पाइकला' नामक बहुत सी तोपें रक्खी हैं। राजधानी में प्रवेश करने के सात सिंहद्वार हैं। जिस द्वार से होकर बाहर के जिस स्थान को जाते हैं, वह द्वार उसी नाम से विख्यात है। राज-मार्ग बहुत सुन्दर रीति से बने हैं और मार्ग के दोनों ओर पत्थरों की मनोहर सीढ़ियाँ विद्यमान हैं। सुनते हैं कि कई वर्ष पहले यह नगर २०००० परिवार की अर्थात संभवतः ८०००० प्रजा की बस्ती था। वर्त्तमान काल में उपर्युक्त संख्या बहुत अधिक मालूम होती है। नगर-निवासियों के लिये गुलाब-सागर प्रधान विश्राम-स्थान है। सब लोग उसके तट और निकट के वनों में वायु-सेवन करके आनन्द भोगते हैं। बड़े आश्चर्य का विषय यह है कि उस वन में एक ऐसा चमत्कारिक फल उत्पन्न होता है, जो काबुल के अनार से भी बहुत बातों में श्रेष्ठ है। काबुल के अनार को अन्याय से 'बेदाना' कहते हैं, क्योंकि उसमें दाने होते हैं, किन्तु यहाँ के इन फलों का बीज इतना छोटा होता है जो कि न होने के ही समान है। 'कागलिका बाग़' अर्थात् दाड़िम के वन में उत्पन्न हुए यह मनोहर और स्वादिष्ट फल उपहार स्वरूप भारत के अनेक स्थानों में भेजे जाते हैं। इन फलों का पद्मराग मणि के समान रमणीय रस देख कर कवि लोग इसकी तुलना अमृत के साथ करते हैं।

चौथी तारीख़ को महाराजा साहब ने दूसरे सिंह द्वार तक मुझको यथारीति से सन्मान के साथ ग्रहण किया, और प्रणाम पूर्वक कुशल प्रश्न के पीछे प्रचलित रीति के अनुसार राजमहल की ओर चले गये। महल में जाकर जितने समय में महाराज मेरी अभ्यर्थना का सामान ठीक कर सकें उतने समय तक मैं ठहर गया, और फिर धीरे धीरे श्रेणीवद्ध भाव से खड़े हुए राजवंशीय और राजा के आत्मीय लोगों के बीच में होकर आगे बढ़ा। जाते समय मेरे नेत्रों के सामने जितने चमक-दमक और ऐश्वर्य्याडम्बर-युक्त दृश्य आये, मुझको पहिले उतने दृश्यों के देखने की आशा नहीं थी। यह सब मेवाड़ाधिपति राणा के सरल और अनैश्वर्य-प्रकाशक अभ्यर्थनानुष्ठान के बिल्कुल विपरीति थे। राठौर लोगों ने बहुत काल तक 'जगत के अधिराज के दक्षिण हस्त स्वरूप' रह कर राज्य किया था। सुवर्ण और चाँदी के आसे आदि राजचिन्हधारी लोगों ने 'राज राजेश्वर' शब्द के उच्चारण से मेरे कानों को बहरे के समान कर दिया। अन्त में हम लोग मौन-निस्तब्ध भाव से खड़े हुए वीरों भरे अनेक कमरों को अतिक्रम करके राजसभा में पहुँचे।

मारवाड़ के अधीश्वर सिंहासन से उठ खड़े हुए और कई पग आगे बढ़ कर सन्मान के साथ मुझे ग्रहण किया। यह अभ्यर्थनागार बहुत बड़ा और एक सहस्त्र स्तम्भों से शोभित होने के कारण 'सहस्त्रस्तम्भकक्ष' नाम से पुकारा जाता है। स्तम्भावली की सुन्दरता की अपेक्षा दृढ़ता अधिक है। प्रत्येक स्तम्भ बारह बारह फुट के अन्तर पर श्रेणी-वद्ध भाव से खड़ा है, इस कारण देखने में बेसिलसिले हैं। इसकी छत बहुत ऊँची नहीं है। सभाग्रह के बीच में एक वेदी के ऊपर राजसिंहासन स्थापित है। उसके ऊपर चाँदी के बने स्तम्भों के सहारे एक सोने के बेलबूटों वाला चँदोवा लगा है। राणा के दक्षिण ओर पोकर्ण और निमाज के दोनों सामन्त बैठे थे।

इन दोनों सामन्तों ने यद्यपि महाराज से ऊँचा सन्मान पाया था, किन्तु यदि वह किसी प्रकार जान पाते कि उनके विपत्ति में डालने के लिये ही महाराज ने प्रगट में इतना अधिक सन्मान दिखाया है तो कभी वह प्रसन्नचित्त होकर नहीं बैठते। दूसरे कई सामन्त और अन्यान्य कर्मचारी चारों ओर बैठे थे। उनके नाम लिखने की आवश्यकता नहीं है। वकील विष्णुराम ने राजा के सन्मुख मेरे पास आसन ग्रहण किया। साधारण बातचीत होने के पीछे अनेक अन्यान्य विषयों में कथोपकथन आरम्भ हुआ। मारवाड़ेश्वर ने हिन्दी भाषा बोलने में बड़ी विलक्षण शक्ति दिखाई। दिल्ली के बादशाह की सभा में जितने सामन्त रहते थे उनमें से इनके समान कोई भी शुद्ध हिन्दी भाषा नहीं बोल सकता था। महाराज का शरीर न बहुत लम्बा न बहुत छोटा, अधिक गम्भीरतायुक्त किन्तु स्वाभाविक अनमनी प्रकृति वाला है। यद्यपि इनकी मूर्ति बिल्कुल राजोचित और वीरों के समान है, किन्तु स्वाभाविक महत्त्व और सरलता के द्वारा मेवाड़ के राणा ने जिस प्रकार सहज में ही मुझ से सम्मानाधिकार किया था, इनकी मूर्ति में उन सबका अभाव है। राजा मानसिंह का अङ्ग प्रत्यङ्ग बहुत मनोहर है, इनके दोनों नेत्र ज्ञानसूचक हैं और यद्यपि इनकी आकृति के बाहर वदान्यता की आभा प्रगट है किन्तु बीच-बीच में क्षणस्थायी ऐसे कितने ही लक्षण दिखाई देते हैं, जिनके द्वारा मानसिक भाव स्वतः ही प्रकाशित हो पड़ता है कि यह मानों सरलता के निदर्शन स्वरूप हैं। यह प्रतारित होकर जो बहुत काल तक बन्दी अवस्था में रहे थे और जिसके कारण से उन्मत्तप्रायः हो गये थे, कदाचित् इनकी प्रकृति उस सम्बन्ध से ही इस भाव में बदल गई होगी।

महाराज मानसिंह ने सब देश और सब काल में अपने मान की रक्षा की थी। किन्तु घोरतर क्लेश में गिर कर कुछ

कठोर हो गये और मानसिक कल्पना को किस प्रकार छिपा कर रखना चाहिये, इस विषय में विशेष शिक्षित हो गये थे। यद्यपि यह बाघ के समान कठोरता नहीं दिखाते थे, किन्तु उस पशु की भयंकर वृत्ति—धूर्त्तता को इन्होंने प्राप्त कर लिया था। बहुत थोड़े समय में ही महाराज बन्दी दशा से छूट गये थे, किन्तु अब भी इनकी मूर्ति में नम्रता, आत्मतुष्टि और सुख-ऐश्वर्य-तिरस्कार-प्रदर्शक भाव होने पर भी अपने अधीनस्थ अगणित मनुष्यों को (जो इनके अनुग्रह से सम्मान-सुख भोग रहे हैं उनको) विध्वंस कर डालने के लिये भीतर-भीतर यह एक जाल फैला रहे थे। इस कारण समय पर इनकी यथार्थ प्रकृति प्रगट हो जाती है। उन नष्ट किये हुओं में से 'सुरतान' नामक एक मनुष्य का वर्णन हम ऊपर कर चुके हैं।

केवल प्राच्य जगत् ही नहीं, अन्यान्य देशों के समान राठौर लोग भी अपने को 'देववंशसंभूत' कहते हैं। हमको निश्चित रूप से ज्ञात हुआ है कि पाँचवीं शताब्दी में कन्नौज में एक जाति अधीश्वर थी और वह ईस्वी सन् आरम्भ से पहले राज्य करती थी। राठौर लोगों के ऊँची जाति के होने के विषय में भाट व कवियों की कविता की आवश्यकता नहीं है; कारण कि वीरत्व-विक्रम-प्रताप-प्रभुत्व-प्रकाशक कार्यावली ने इतिहास के पत्रों में राठौर लोगों का नाम जिस भाव से अंकित कर दिया है, वह कभी लुप्त नहीं होगा। रजवाड़े की इन राठौर, चौहान आदि समस्त राजपूत जातियों ने यश रूपी मन्दिर के किस स्थान में किसने कैसा आसन पाया था, उसका निर्वाचन असम्भव है, किन्तु सत्य के अनुरोध से मैं अवश्य ही राठौर लोगों को चौहानों के साथ समान यश वाले शिखर पर आसन देने को बाध्य होता हूँ। मारवाड़ के आदि राठौर राज शिवजी के वंशसंभूत चण्ड

और योध तथा उनके उत्तराधिकारी राजा मानसिंह का वीरत्व विलास अवश्य ही चिरस्मरणीय है।

अन्त में महाराज के पवित्र हाथ से इत्र और पान लेकर सम्मान के साथ प्रणाम किया, और फिर प्रचलित रीति के अनुसार राजा के सामने ही शिर पर टोपी रक्खी। सम्पूर्ण देशी राजाओं में शिर पर पगड़ी धारण करने और नंगे पैर बैठने की रीति प्रचलित है। साधारण लोगों के बैठने के लिये सफेद चादर से ढका एक बहुत बड़ा ग़लीचा बिछा था, किन्तु उसके ऊपर जूता पहन कर बैठना अवश्य ही अशिष्टाचार-सूचक है। राज-द्वार पर जूता उतार कर आना होता है, किन्तु मोजा पहिने हुए उस कमनीय शय्या के ऊपर बैठना कभी अपमान-सूचक नहीं हो सकता। महाराज ने मुझको सजी हुई सवारी, घोड़ा, माला, सुनहरे और रुपहले काम के वस्त्र उपहार में दिये। मेरे साथ में जितने भद्र लोग थे, महाराज ने उनको भी पद-मर्यादा के अनुसार उपहार दिये।

राज्यशासन-सम्बन्धी सुव्यवस्था के निमित्त छठी तारीख़ को मैंने दुबारा महाराज से मुलाक़ात की। कई घण्टे तक हम दोनों बराबर बातचीत करते रहे, उस समय वहाँ पर महाराज के विशेष विश्वासी एक कर्मचारी के सिवाय और कोई नहीं था। बातचीत करने से मुझको यह भली भाँति ज्ञात हो गया कि महाराज एक बुद्धिमान पुरुष हैं, और केवल स्वदेश का ही नहीं किन्तु सम्पूर्ण भारतवर्ष के इतिहास के साधारण विषयों को भली भाँति जानते हैं। ये प्रशंसनीय रूप से शिक्षित हैं, और मुलाक़ात के समय इन्होंने मुझको वर्तमान और भविष्यत् काल के अनेक विषयों से जानकार कर दिया। महाराज ने अपने वंश के इतिहास की पुस्तक का जो अनुवाद मुझे दिया था, वह इस समय रायल एशियाटिक सोसायटी के पुस्तकालय में रक्खा

है। उन्होंने अपने जीवन में इतिहास की घटनावाली विशेष आग्रह के साथ कही, और उनके गुरु (केवल दीक्षागुरु ही नहीं, मन्त्री और मित्र भी थे) जिस समय मारे गये थे, उस समय उन्होंने अपना राज्यभार पुत्र को देकर आत्मरक्षा के लिये जो जो उपाय किये थे, वह सब एक एक करके मुझसे कहे। यह सब घटनाएँ विचित्र रहस्य-जाल में जकड़ी हुई हैं और केवल महाराज ही उस रहस्य-जाल को भेदन करने में समर्थ हैं। किन्तु जिस उद्देश्य साधन के लिये साहसी वीर सुरतान का जीवन नष्ट किया गया, मैं वह उद्देश्य आविष्कार करने के लिये उस गुप्त रहस्य का वह परिमित अंश भेदन करके एक प्रधान याजक का पाठकों को अवश्य ही परिचय दूंगा।

अभयसिंह ने अपने पिता राजा अजितसिंह का जीवन नष्ट किया था, उस महापाप से ही मारवाड़ के और उनके परवर्त्ती तीन-चार पुरुषों का सर्वनाश हुआ। पापी को उपयुक्त दण्ड देने के लिये ही मानो जगदीश्वर ने मारवाड़ की वह शोचनीय दशा उपस्थित कर दी थी। जिन परमोत्साही महावीर राजा अजित-सिंह ने बड़ी वीरता के साथ बादशाह औरंगजेब के करालकाल से अपना पैत्रिक राज्य उद्धार कर लिया था, उनके ही ज्येष्ठ पुत्र अभयसिंह ने राजमुकुट धारण के लिये पिता के स्वर्गारोहण समय की बाट न देखी, और नर-पिशाच के समान अधीर होकर अपने अपवित्र हाथ से जन्मदाता पिता का दीप-निर्वाण कर दिया। सुना जाता है कि दिल्ली के बादशाद ने अभयसिंह को गुजरात के राजप्रतिनिधित्व पर नियुक्त करने की आशा देकर उनको इस महापातक रूप गहरी कीच में डुबा दिया था। अभयसिंह के छोटे भाई भक्तसिंह ने राजा की उपाधि धारण कर के साथनागर प्रदेश पाया। अभयसिंह ने उक्त प्रदेश अपने भ्राता के हाथ में सौंप दिया, किन्तु समय पलटने पर उनके ही

उत्तराधिकारियों ने भयानक युद्धाग्नि प्रज्वलित करके सहस्रों नर-रक्त से बालुका-पूर्ण मरु-क्षेत्र को सींचा था। रजवाड़े की सामन्त-शासन-प्रणाली का यही विषमय फल है। इस शासन प्रणाली के द्वारा जैसा एक पक्ष में अत्यन्त प्रशंसनीय-चिरस्मरणीय कार्य सिद्ध हुआ, दूसरे पक्ष में वैसा ही बड़ा भारी पाप भी हुआ।

पूर्वोक्त प्रकार से राजनैतिक विप्लव के समय जितनी विपत्तियों की सम्भावना थी, राजा मानसिंह को इस समय सिंहासन पर बैठ कर वह सब विपत्तियाँ भोगनी पड़ीं। जिस समय वह झालासन्द में अपने अधिनायक और ज्ञाति-भ्राता के आक्रमण के विरुद्ध आत्मरक्षा में नियुक्त थे, उस समय यह एक अभावनीय घटना के द्वारा उस विपत्ति से उद्धार पाकर राजसिंहासन पर बैठे। राजा भीमसिंह ने साक्षात् नर-पिशाच के समान मारवाड़ के राजवंश की प्रत्येक शाखा के मनुष्यों को मारा, और प्राणनाश से बचे हुए मानसिंह को मार कर अपनी बुरी अभिलाषा पूरी करने की चेष्टा करने लगे। भीमसिंह के इस शोचनीय पैशाचिक आचरण से मारवाड़ में राज्य-विध्वंसकारी भयंकर युद्धाग्नि जल उठी। जहाँ तक शोचनीय और निराशाजनक दशा होने की सम्भावना हो सकती है, राजा मानसिंह को उस समय वह सब प्राप्त हुई थीं, और जिस दिन वह विवश होकर अत्याचारी के हाथ में आत्म-जीवन के साथ-साथ झालोर प्रदेश सौंपने को उद्यत हुए, उसी दिन उन्होंने इस घोर विपत्ति से उद्धार पाया था। उन्होंने मुझसे कहा कि, "राठौर जाति में प्रधान गुरु मारवाड़ के सर्व प्रधान धर्मयाजक के करुणा बल से ही मैंने उद्धार पाया था।" उक्त गुरुवर सर्व-साधारण में 'नाथजी' नाम से विख्यात हैं, उन का असली नाम 'देवनाथ' है। इन पूजनीय गुरुदेव ने निःस्वार्थ भाव से न्याय के वशीभूत होकर राजा मान की जीवन-रक्षा की

थी, यह बात ठीक है अथवा केवल सामान्य देवाराधन के बदले अन्य किसी विचित्र उपाय से इस नश्वर संसार स्वर्ग में भेजा, इस विषय में अनेक लोग अनेक प्रकार की बातें कहते हैं, किन्तु यह बात सब लोग स्वीकार करते हैं कि यदि यह गुरु देव राजा मानसिंह की रक्षा न करते तो भीमसिंह का मनोरथ पूरा हो जाता। अतः भीमसिंह के प्राणनाश में मानसिंह का ही विशेष उपकार दिखाई देता है। मारवाड़ के पाषाण-हृदय भीमसिंह के हाथ में आत्म-समर्पण करके घोर-कष्ट भोगने के बदले जब राजा मानसिंह आत्म-हत्या करने को उद्यत हुए, तब उक्त प्रधान धर्म्म-याजक ने भविष्यद्वक्ता के समान कहा कि, "आपकी जन्म-पत्री में आत्म-समर्पण का कोई योग नहीं है, अन्त में आपकी ही विजय होगी।" इस प्रकार के भविष्यद्वक्ता लोग राजा लोगों के लिये भयानक अनिष्टसाधक हैं, क्योंकि वह अपनी बात सत्य सिद्ध करने के लिये अनुचित उपायों के करने से भी नहीं डरते। सुनते हैं कि उक्त धर्म्मयाजक ने राजा भीमसिंह के मरण के लिये जो उपासना की थी, उसके फलीभूत होने के लिये विष-प्रयोग आवश्यक समझा, इस कारण उस उपासना और हलाहल ने राजा मानसिंह की मृत्यु का निवारण करके मारवाड़ के राज्य सिंहासन पर बैठा दिया। देवनाथ ने मानसिंह का जो उपकार किया था, उसके लिये बड़ा भारी सामान और अगणित वृत्ति निर्द्धारण करके भी राजा मानसिंह अपने को उन धर्म्मयाजक का ऋणी समझते हैं। उक्त याजक ने जब मन पवित्र करके राज-वेश उतारा और स्वयं अपने प्रभु राजा मानसिंह के साथ राज-कार्य्य करने की सम्मति दी तो राज-सिंहासन भी पवित्र माना गया। देवनाथ ने जिस समय आशीर्वाद देकर मानसिंह के गले में जयमाला डाली, उस समय राजा हाथ जोड़कर उनके सामने खड़े थे। धर्मयाजक के लिये राज्य के प्रत्येक प्रदेश में इतनी

भू-वृत्ति निर्धारित कर दी गई है कि वह जिस देवालय के प्रधान याजक हैं उस देवता की सम्पत्ति मारवाड़ के श्रेष्ठतम सामन्तों की अपेक्षा बहुत अधिक है और सम्पूर्ण मारवाड़ का जितना कर एकत्रित होता है उनकी आय उसका दशांश है। कई वर्ष तक देवनाथ ने अपने अधीश्वर मानसिंह को अपनी मुट्ठी में रक्खा और उतने समय में उन्हीं ने राज्य के कोषागार से असंख्य धन लेकर चौरासी मन्दिर और उनके साथ धर्मशालाएँ बनवा दीं। उन धर्मशालाओं में इनके शिष्य लोग सुख-पूर्वक स्वच्छन्दता से निवास करते हैं और वहाँ के कारीगरों से धन लेकर अपना पालन करते हैं। इङ्गलैण्ड के विलासी के समान मरुदेश के यह देवनाथ प्रतिक्षण अपनी शक्ति को इस प्रकार से काम में लाते हैं कि हतबुद्धि मानसिंह के सिवाय और सब लोग उनसे रुष्ट हो गये हैं और भीतर-भीतर उनसे शत्रुता रखते हैं। इनकी और राजमन्त्री की ऊपरी मित्रता है। दोनों ही राजा को हस्तगत करके मारवाड़-शासन में स्थित हुए हैं। उस प्रकार के स्वभाव—चरित्र वाले याचकगण अपनी निर्धारित कर्तव्य-सीमा से बाहर कार्य करें तो सहज ही में धर्म के नाम से कलङ्क लग जाता है। मारवाड़ की उद्धत-प्रकृति सामन्तमण्डली इन गर्वित याजकों द्वारा जिस प्रकार अपमानित, लुप्तप्रताप और हत गौरव हुई थी, उससे उन्होंने नर-हत्या को अति सामान्य अपराध समझा। विख्यात इतिहासवेत्ता सामो-साटा केपाल के विषय में जो वचन लिख गये हैं, मारवाड़ के देवनाथ के विषय में भी ठीक वही बात प्रयोग की जा सकती है उनकी धर्मयाजक-पद-सम्बन्धी शक्ति केवल अर्थ-संग्रह और लूट-मार में ही लगाई जाती है। यह धर्म-विश्वासियों से जो बड़े-बड़े धनी लोग हैं, उनके निकट से सदा बल-पूर्वक धन का संग्रह कर लेते हैं और साधारण राज-कर का बहुत सा धन अपने कामों में व्यय

करते हैं। उनका जिस प्रकार का मन्त्रण-सभागार और सुवर्ण-सिंहासन था, वह जिस महाडम्बर महैश्वर्य-प्रकाश के साथ सर्व साधारण के सन्मुख उपस्थित होते, विनयावनत साधारण लोग जिस भाव से उनसे दया की प्रार्थना करते और अनेक कार्यों से उनकी जैसी व्यग्रता दिखाई देती, उससे वे सब सामान्य विनयी याजकों के बदले एक विचारक मालूम होते थे। किन्तु देवनाथ का पूर्ण विकसित गर्व-प्रसून अन्त में छिन्न-भिन्न हो गया। देवनाथ ने अपने अधीनस्थ देवालय समूह और शिष्यों के व्यय का धन तथा मारवाड़ के प्रधान-प्रधान सामन्तों के अधीनस्थ प्रदेशों के अनेकांश धीरे धीरे अपने कर लिये थे; सम्पूर्ण सामन्तों के अनुचरों की जितनी संख्या थी उतनी संख्या अकेले देवनाथ के अनुचरों की थी। मारवाड़ेश्वर जिन राजचिह्न-ध्वजा, पताका, दण्डधारी शरीर रक्षकों के साथ बाहर निकलते थे, देवनाथ की सन्मान-वृद्धि के लिये भी बीच बीच में वे सब अनुचर उनके पीछे चलते थे। जिस समय गर्वित राजपूत सामन्तगण हाथ जोड़कर देवनाथ के सन्मुख खड़े होते थे, उस समय अपने मन में समझते थे कि, "मारवाड़पति अधिराज के निकट प्रतिहिंसा प्रदानार्थी वृथादर्पी याजक तथा धर्मविधान के बहाने से आत्मगौरव सुखेच्छा-पूर्ण करने वाले के सन्मुख नम्र होते हैं।"

इधर-उधर याजक ने इनके गर्व का चूर्ण और राज-कर न्यून कर दिया था, यह बात भी उनके हृदय में भली भाँति अङ्कित थी। यह सम्पूर्ण अपमान्ति सामन्त शीघ्र ही बदला लेने को उद्यत हो गये। यद्यपि वह लोग उन धर्मयाजकों के रक्त में अपनी अपनी तलवार रँगने को प्रस्तुत न थे, किन्तु शीघ्र ही उनके मनोरथ पूरा होने का अवसर आ गया। दया किस चिड़िया का नाम है, जो जाति इस बात को बिलकुल नहीं जानती उस जाति

के दुर्दान्त डाँकू अमीरखाँ की सेना ने अपनी तलवार से उसके प्राण ले लिये। सुनते हैं कि राजा मानसिंह भी उस हत्याकाण्ड में गुप्त रूप से मिले हुए थे; यद्यपि उन्होंने उस हत्या की आज्ञा व अनुमति नहीं दी थी, किन्तु हत्या-निवारण करने की भी कुछ चेष्टा नहीं की। इस समय उस रहस्य को प्रकट करने वाले केवल दो मनुष्य जीवित हैं—एक राजा मानसिंह और दूसरे राजस्थान के डाँकू अमीरखाँ।

सर्व-श्रेष्ठ धर्म-याजक की मृत्यु के पीछे शोचनीय दशा के आने का आरम्भ हुआ। उस दशा में अत्यन्त विश्वास-घातकता के साथ किस प्रकार निमाज के सामन्त और उनके कुटुम्बी लोग मारे गये और राजस्थान की प्रफुल्ल कमलिनी कृष्णकुमारी के नवीन जीवन की बेल अकाल में सूख गई, यह बातें इतिहास-प्रसिद्ध हैं। मुझको झालामन्द से राजधानी में लाने वाले वीरवर सुरतान पर जो आक्रमण किया गया था, इतने वर्ष पहले बोया हुआ यह बीज ही उसका मूल कारण है। केवल सुरतान का ही जीवन नष्ट किया हो, ऐसा नहीं, किन्तु मरुक्षेत्र के अधीश्वर मानसिंह क्रम से प्रथम श्रेणी के शक्तिशाली सामन्तों में से किसी को निर्वासित और किसी को निधन कर रहे हैं। यद्यपि इन सब षड्यन्त्र-जाल-भेद का वर्णन अत्यन्त नीरस मालूम होना सम्भव है, तथापि उनमें से कई बातों का लिखना आवश्यक है। कारण कि उसको पढ़कर पाठक लोग राजा मानसिंह के (जो इस समय ब्रिटिश गवर्नमेंट के मित्र हैं) हिंस्र भाव का पूर्ण परिचय पा सकेंगे।

संवत् १८६० (सन् १८०४ ई०) में माघ मास की ५वीं तारीख़ को मानसिंह जालोर से जोधपुर में आकर अभिषिक्त हुए। मानसिंह से पहिले के राजा भीमसिंह अपनी एक गर्भवती स्त्री को छोड़ गये थे। विधवा रानी ने अपने पति के परलोक

सिधारने पर अपने गर्भ की बात छिपा कर रक्खी और यथा-समय एक पुत्र उत्पन्न किया। रानी ने उस बालक को छबड़ी में रख कर पोकर्ण के सामन्त सवाईसिंह के पास भेज दिया। उक्त सामन्त ने दो वर्ष तक उस बालक को छिपा कर रक्खा। अन्त में मारवाड़ की सामन्त-समिति में इस बात को प्रगट किया और सब की सम्मति से राजा मानसिंह से यह सब रहस्य-वर्णन करके कहा कि, "मारवाड़ का असली उत्तराधिकारी यह बालक धौकलसिंह है, अतः नागर और उसके अधीनस्थ प्रदेश इसे दे दीजिये।" राजा मानसिंह ने कहा कि, "यदि बालक की माता ने इसको सत्य-सत्य ही भीमसिंह का औरस पुत्र बताया है, तो मैं इसका अनुरोध अवश्य ही पालन करूँगा।" रानी ने अपने प्राण-नाश के भय से अथवा पोकर्ण के सामन्त के षड्यन्त्र-जाल-विस्तार से उस बालक को अपना पुत्र नहीं माना। सामन्त-मण्डली इस बात को असत्य समझ कर भी कई वर्ष तक चुप रही। प्रकृति की शान्त मूर्त्ति जिस प्रकार प्रबल वायु के आने का पूर्व लक्षण प्रगट करती है, सामन्त लोगों की इस निर्बलता ने भी उसी प्रकार मारवाड़ में राजनैतिक आँधी की सूचना दी थी; शीघ्र ही उस प्रचण्ड वायु से मारवाड़ के राजनैतिक महल की जड़ तक काँप गई। स्थान स्थान में लुटेरे और विजातीय शत्रु घुस गये, राजा को सिंहासन से उतार दिया और उन प्रधान षड्यन्त्रकारी ने भूल से भी अपने मन में जिस बात की कल्पना नहीं की थी वह सामने आगई अर्थात् सेनासहित नष्ट हो गया। उस विश्वास-घातकता के कारण सामन्त-प्रणाली के ऊपर से बहुत दिनों के लिये राजा लोगों का विश्वास उठ गया। पोकर्ण के सामन्त सवाईसिंह धौकलसिंह को मारवाड़ के सिंहासन पर न बिठा सके। अन्त में उन्होंने धौकलसिंह को जयपुर वंश के खेतड़ी नामक प्रदेश के शिखावत सम्प्रदाय के स्वाधीन सामन्त

के निकट बेखटके रहने के लिये भेज दिया। कुछ काल पीछे मारवाड़ के राणा की पुत्री कृष्णाकुमारी के निमित्त मारवाड़ और जयपुर राज्य में भयानक युद्ध उपस्थित हुआ; यह उपयुक्त अवसर समझ कर उस समय वहाँ से कार्य रङ्ग-भूमि में ले आये। कृष्णाकुमारी के निमित्त मानसिंह के साथ जयपुर-पति से भयङ्कर युद्ध हुआ था। यह सहज में ही अनुमान किया जा सकता है कि सवाईसिंह के षड्यन्त्र से ही उत्तर भारत के सम्पूर्ण राजा लोग इस युद्ध में सम्मिलित हुए थे। राजा मानसिंह जिस समय परम रूपवती कृष्णाकुमारी के पाणिग्रहण की आशा से समराग्नि प्रज्वलित करने को उद्यत हुए थे, उस समय मारवाड़ की प्रजा उनसे विरक्त हो गई। यह देख कर चतुर सवाईसिंह ने राजा भीमसिंह के औरस पुत्र धौकलसिंह को मारवाड़ का असली राजा बना कर घोषणा कर दी, तब सब लोग राजा सवाईसिंह के पक्ष में हो गये। इसके पीछे-पीछे कैसे-कैसे उपाय किये, क्या क्या लोमहर्षण काण्ड घटा, किस प्रकार कृष्णा का जीवन-दीप अकाल में बुझाया गया, उसको पीछे लिख आये हैं। इस घटना सूत्र में ही पोकर्ण के सामन्त सवाईसिंह मारे गये, और उनके कुछ ही दिन पीछे धर्मयाजक देवनाथ अमीरखाँ के अनुचरों द्वारा शोचनीय रूप से नष्ट हुए।

अपनी प्रबल मानसिक शक्ति के बल और कई मित्रों की सहायता से अपने सब शत्रुओं का नाश करके राजा मानसिंह विक्षिप्त से हो गये। प्रत्येक स्त्री-पुरुष पर उनको सन्देह होने लगा, केवल रानी के हाथ के बने हुए भोजन के सिवाय और सब भोजन करना बन्द कर दिया; उनका विराग क्रम से बढ़ता गया और अन्त में राज-कार्य और सबका संग छोड़ कर एकान्त में रहने लगे। उनकी असली व नकली उन्मत्तता दूर करने के लिये जितने उपाय किये गये, वह सब निष्फल हुए। वह दिन रात

केवल देवनाथ की मृत्यु पर शोक-प्रकाशन करने और देवताओं की स्तुति करने में लगे रहते थे। जिस समय राजा मानसिंह के चित्त की ऐसी दशा हुई, उस समय उनसे पुत्र के ऊपर राज्य शासन का भार समर्पण करने का अनुरोध किया गया। तब उन्होंने अपने हाथ से अपने पुत्र के मस्तक पर राजतिलक लगाया। नवीन राजा छत्रसिंह उस समय व्यवहार-शून्य थे, यह जैसे विवेक-बुद्धि-हीन थे, वैसे ही लम्पट थे। राज्यप्राप्ति के पीछे अक्षयचन्द बनिये को उन्होंने मन्त्री बनाया।

सन् १८०६ ई० से १८१७ ई० तक मारवाड़ की दशा बहुत बुरी रही उस ही समय घटनाचक्र से राजस्थान का भाग्य अँग्रेजों के हाथ में आया। छत्रसिंह ने ब्रिटिश गवर्नमेण्ट के साथ सन्धि-स्थापन करने के लिये एक राजदूत को भेजा, किन्तु सन्धि स्थापन से पूर्व ही छत्रसिंह स्वर्ग को सिधार गये। उनकी इस अकाल-मृत्यु के विषय में अनेक लोग अनेक बातें कहते हैं। कोई कोई कहते हैं कि अतिशय लम्पटता के कारण शरीर की दुर्बलता ने उनके जीवन-दीपक को अकाल में निर्वाण कर दिया। दूसरे लोग कहते हैं कि उन्होंने एक राजपूत युवती का सतीत्व नष्ट करने की इच्छा की थी, इस कारण युवती के पिता ने अपनी तलवार से उनके प्राण ले लिये। छत्रसिंह की मृत्यु और राजनैतिक दशा परिवर्तित देख कर मारवाड़ की सामन्त-मण्डली एकान्तवासी मानसिंह के ऊपर दृष्टि डालने के लिये बाध्य होगई। मैंने जो कुछ बातें लोगों से सुनी उनमें यदि आधी बातें भी सत्य हों तो मैं यह कह सकता हूँ कि देवनाथ के हत्याकाण्ड से छत्रसिंह की मृत्यु तक जितने समय तक महाराज इस दशा में रहे वह समय उनके पापों का प्रायश्चित स्वरूप था। जिस समय सम्वाददाता ने छत्रसिंह की मृत्यु का समाचार सुना कर उनको राज्य शान्ति-रक्षा के लिये प्रस्तुत होने को कहा, उस समय वह

दोनों बातों का भाव कुछ भी न समझ सके। दीर्घकाल तक उन्मत्तता प्रगट करने के कारण वह वास्तव में विक्षिप्त के समान होगये थे। क्षौर न कराने के कारण उनकी डाढ़ी, मूछें और जटा-जाल ने उनकी आकृति को पागलों के समान बना दिया था। किन्तु इस विरक्ति के समय में उन्होंने अपने जीवन की रक्षा में विशेष यत्न किया था। जो कई सामन्त छत्रसिंह की राज्यशासन-सहायता करते थे, उन्हीं के अनुचर राजा मानसिंह की सेवा करते थे। सुनते हैं कि इन सेवकों ने राजा मानसिंह की हत्या करने को कई बार विष दिया था। उनका यह बुरा उद्देश्य सिद्ध न होने के कारण लोग सत्य-सत्य ही उनको विक्षिप्त समझने लगे, और इस बात को भी भली भाँति समझ गये कि इनका जीवन देव-मन्त्र से रक्षित है। यथार्थ में बात यह थी कि राजा मानसिंह का एक अति विश्वासी सेवक था, इसने इस घोर विपत्ति में भी राजा का संग नहीं छोड़ा था, वह अपना लाया हुआ भोजन ही राजा को खिलाता था।

राजा मानसिंह ने धीरे-धीरे अपनी उन्मत्तता को छोड़ दिया। अंग्रेज़ों के साथ सन्धि होते ही उन्होंने इस बात को भलीभाँति समझ लिया कि राज्य की शान्ति रक्षा करने के लिये सेना लेकर युद्ध में जाना ही उचित है। उन्होंने अपनी इस इच्छा को स्वयं ही प्रगट कर दिया। राजा मानसिंह ने ब्रिटिश गवर्नमेण्ट की सहायता से सम्पूर्ण शत्रुओं का दमन कर दिया।

राजा मानसिंह ने गुप्त उद्देश्य सिद्ध करने के लिये अपने बाहुबल के अतिरिक्त एक अन्य कार्य का आश्रय लिया। उन्होंने अपनी स्वाभाविक चतुरता से प्रगट में ऐसी दया दिखाई कि सम्पूर्ण सामन्त उनका विश्वास करने लगे, और मन-मन में सोचने लगे कि, "महाराज हमारे पिछले अपराधों को भूल कर हमारा विश्वास करते हैं।" इस कारण से सब ही असावधान

रहने लगे। इधर सामन्त लोग राज दरबार में अपनी-अपनी प्रभुता बढ़ाने लगे, महाराज प्रगट में इधर कुछ भी ध्यान नहीं देते थे। उसी समय सामरिक नेता पोकर्ण के सालिमसिंह और प्रधान मन्त्री अक्षयचन्द को शक्ति हीन करने के लिये योधराज ने अपने दलबल के साथ विवाद बढ़ाना आरम्भ किया। राजा मानसिंह उनके इस विवाद से मन में बड़े प्रसन्न हुए। परन्तु प्रगट में उदासीनता दिखाने लगे। उन दोनों ने भूल से भी इस बात का अनुमान नहीं किया कि राजा ने अपना मनोरथ सिद्ध करने के लिये ही यह जाल रचा है। जितने दिन तक मारवाड़ का राज छत्रसिंह के शिर पर रहा, उतने समय तक ही अक्षय-चन्द ने प्रधान-मन्त्रित्व किया था। मारवाड़ के आर्थिक और राजनैतिक सब विषय उस ही को मालूम थे; इस कारण सहसा राजा मानसिंह ने उसको नहीं मारा, किन्तु जो बातें उनकी विक्षिप्त दशा में हुई थीं, उन सब बातों को जानकर उसके मारने और उसकी सम्पत्ति स्वयं हस्तगत करने की चेष्टा करने लगे। मानसिंह अपने मन ही मन सोचने लगे कि केवल प्राण नाश द्वारा ये उद्देश्य सिद्ध नहीं हो सकते। चतुर अक्षयचन्द ने भी अपनी इस शोचनीय दशा को जान लिया। अंग्रेजों के साथ राजा की मित्रता हो जाने के कारण वह डरने लगा, और अंग्रेजों की ओर से राजा को विरुद्ध कर देने की चेष्टा करने लगा। राजा मानसिंह भी दिखाने के लिये उसकी हाँ में हाँ मिलाने लगे। प्रधान मन्त्री और उसके साथी गुप्त रूप से राजा के वश में आगये।

जिस समय यह गुप्त षड्यन्त्र जाल फैल रहा था, उस समय ही मैं राज-सभा में पहुँचा था। मैंने राजा मानसिंह को मन-मलीन, गहरी चिन्ता में मग्न, प्रत्येक कार्य्य सावधानी के साथ करते हुए, और कुचक्री अक्षयचन्द का पक्ष-समर्थन करने

वालों से घिरा हुआ देखा। अक्षयचन्द यद्यपि प्रतिद्वन्दियों को बन्दी करने में समर्थ नहीं था, तथापि शत्रुओं की ओर से राजा को विरुद्ध करने के यत्न में कोई त्रुटि शेष नहीं रक्खी। किन्तु उसके जीवन नष्ट करने के लिये जो जाल फैलाया जा रहा था, उसकी उन समस्त चातुरी, छलना, धूर्त्तता और षड्यन्त्र ने उसको उस जाल में और भी जकड़ दिया। राजा मानसिंह ने पहिले ही अक्षयचन्द के द्वारा सामन्त-मण्डली का जीवन-हनन कार्य पूरा कर लिया। उसके उस हत्याकाण्ड नाटक का प्रथम अभिनय स्वरूप सुरतान का स्वर्गवास सब से पहिले समाप्त हुआ; इसके पीछे बहुत से सामन्त इसी प्रकार से मारे गये, यहाँ तक कि राजा मानसिंह का प्रथम उद्देश्य सिद्ध होने में कुछ भी शेष नहीं रहा। अन्त में प्रतिहिंसा के फल देने का समय उपस्थित हुआ; मन्त्रिवर अक्षयचन्द और उसके साथी लोग राज्य के पदों से अलग करके बन्दी भाव से कारागार में भेजे गये। राजा मानसिंह ने अक्षयचन्द को जीवन-दान की आशा देकर ठग लिया; उसने अपनी चालीस लाख रुपये की सम्पत्ति की एक सूची राजा के हाथ में सौंप दी। राजा ने उस सब सम्पत्ति को अपने हस्तगत करके अन्त में अक्षयचन्द को मार डाला। दुर्गाध्यक्ष नागजी और मल्लजी धोन्धल नामक दो मनुष्य राजा के मृत पुत्र के परम प्रेमपात्र और उपदेशक थे। जब राजा ने निकाले हुए अपराधियों को क्षमा कर देने का ढिंढोरा पिटवाया तो उपर्युक्त दोनों व्यक्ति राज्य में फिर लौट आये और अपने को अविद्रोही समझकर निवास करने लगे। छत्रसिंह के शासन-समय में उन्होंने जितना धन राज-कोष से संग्रह किया था, उस सब धन को राजा ने स्वयं हस्तगत करके उन दोनों को विष दे दिया और उन दोनों के शव को परिखा की धार में डाल दिया। उपर्युक्त हत्याओं के कर डालने पर भी राजा मानसिंह

की पैशाचिक कामना निवृत्त न होकर क्रम से प्रबल होने लगी। इनके नवीन मन्त्री फतेहराज, अक्षयचन्द्र और सम्पूर्ण चम्पावत सम्प्रदाय के प्रबल शत्रु थे; कारण कि उसकी धारणा यह थी कि, "यही सब मेरे भ्राता इन्दुराज को याजक देवनाथ के जीवन-हनन-काल में मारने के कारण स्वरूप थे।" इस कारण उसने इस लोमहर्षण अभिनय काल में पूर्ण उद्योग के साथ राजा मानसिंह की सहायता की थी। राजा मानसिंह भी इसी प्रकार प्रतिदिन अगणित मनुष्यों में से किसी के प्राणनाश, किसी को बन्दी और किसी की समस्त सम्पत्ति छीनने की आज्ञा देते थे। सुनते हैं कि राजा मानसिंह ने इस प्रकार एक करोड़ रुपया अपने राज्य-कोष में बढ़ाया।

इस राज-सभा में मेरे जाने के छः मास और ब्रिटिश गवर्नमेण्ट के साथ मित्रता-स्थापन के अठारह मास पीछे उक्त शोचनीय हत्याकाण्डादि किये गये थे। रक्त-पिपासु दुर्दान्त अत्याचारी राजा महता जातीय प्रत्येक वणिक् का वाणिज्य द्रव्य अपना कर लेंगे और प्रतिष्ठित निर्दोषी सामन्त लोगों को अपनी इच्छानुसार देश से बाहर निकाल देंगे, तथा "उनके आभ्यन्तरिक शासन में मैं हस्तक्षेप नहीं करूँगा" इस प्रतिज्ञा ने ही मेरे हाथ पैर बाँध रक्खे थे। राजा मानसिंह ने जितने आत्मीय और सामन्तों के प्राणसंहार किये थे, मारवाड़ के इतिहास में किसी राजा के शासन में भी इतने लोमहर्षण काण्ड नहीं घटे थे।

जो इतिहास भविष्यत में जानने योग्य है, पाठक-मण्डली उसको वर्तमान स्थान पर पढ़ने से अवश्य ही राजा मानसिंह के दोषों को भूल कर उनको गम्भीर, नम्र और पूर्ण शिक्षित राजा समझेगी। मैं समझता हूँ कि मानसिंह ने विचार पूर्वक ही यह संहार-मूर्त्ति धारण की थी। जो कुछ भी हो इन सब बातों के लिखने के लिये अधिक समय की आवश्यकता है। राजा

मानसिंह पूर्ण शिक्षित थे, वह फ़ारसी भाषा और अपनी जातीय भाषा में भली भाँति बातचीत करते थे। उन्होंने अपनी कविता में लिखे हुए अपने वंश के छः इतिहास मुझको उपहार में दिये। उनमें से जिन दो में सात हज़ार कविता थीं उनका मैंने अनुवाद लिख लिया। प्रत्युपहार स्वरूप में मैंने भारतवर्ष में मुसलमानों के शासन का बड़ा इतिहास और "खुलासात उल तवारीख" अर्थात् भारतवर्ष का संक्षिप्त इतिहास भेज दिया। मुलाक़ात के समय महाराज को मैंने जैसा पण्डित और सज्जन समझा था, परिणाम में ठीक उसके विपरीत हुआ। महाराज के साथ बातचीत के समय राज्य की शासन-प्रणाली और राजपूतों के कर्त्तव्य सम्बन्धी उपदेश उनसे सुनकर मुझे परमानन्द हुआ। महाराज मुझको केवल एक अनुचर के साथ महल के अनेक कमरों में ले गये और वहाँ से बड़े लम्बे-चौड़े मरुक्षेत्र की ओर मेरी दृष्टि को फेरा। पास के छोटे-छोटे शिखर दृष्टि को दूर तक जाने में रोकते थे। इतने बड़े मैदान में केवल दो एक नीम के वृक्षों के सिवाय और कोई वृक्ष दिखाई नहीं दिया। कई घण्टे तक बातचीत होने के पीछे मैं डेरे पर लौट आया, वहाँ आकर देखा कि मेरे दोनों मित्र कप्तान बाघ और मेजर गफ कई रोहिल्ला कुत्तों की सहायता से एक मृग का शिकार कर लाये हैं।

८ वीं नवम्बर—मरुक्षेत्र की "पँचरँगी" राजपताका यवन-शासन के निकट झुकने से पहिले इस प्रदेश की प्राचीन राजधानी मन्दौर थी। उसके ध्वंस तूपों में घूमकर इतिवृत्त जानने की इच्छा से उस दिन प्रातःकाल ही मैंने यात्रा की। राजा के भेजे हुए अनुचरों के साथ आगे बढ़ा; अभीष्ट स्थान पर पहुँचने में एक घंटे से कुछ अधिक समय लगा, यद्यपि यह स्थान ढाई कोस से अधिक दूर नहीं था, किन्तु हम लोग बहुत धीरे-धीरे चले थे। राजधानी से नगर की ओर जो मार्ग गया है, उस मार्ग से जाने के

लिये मैंने सुजात तोरण में होकर राजधानी को छोड़ा। कुछ ही दूर चलने पर "महामन्दिर" को देखा। राजा मानसिंह ने ध्वंस प्रायः जालौर से उद्धार पाकर अपने व्यय से इस मन्दिर को बनवाया था। डेढ़ कोस मार्ग आगे-आगे को पूर्व को नीचा होता चला गया है। मैं उस मार्ग से होता हुआ पश्चिम की ओर जाने वाले मार्ग में चलकर चारों ओर शिखर माला से घिरे हुए मारवाड़ के राजवंश के प्राचीन कीर्ति-पूर्ण स्थान में पहुँचा। यह मार्ग बहुत छोटा है, शिखर बहुत ऊँचे तक सीधे चले गये हैं और पर्वत में सैकड़ों गुफाएँ सन्यासियों का निवास स्थान बनी हुई हैं; पूरीहर लोगों की प्राचीन राजधानी इस मन्दिर में शत्रुओं का प्रवेश रोकने के लिये चारों ओर दुर्ग-प्राकार बना था, उसका ध्वंसावशेष अब भी दिखाई देता है। इस स्थान में निर्मल और स्वादिष्ट जल वाली नदी नाचती हुई चली है और एक सुन्दर खिलान में होकर जलधार चली गई है। कुछ दूर चलने के पीछे मार्ग क्रम से चौड़ा आने लगा; और दो सौ घरों से युक्त ग्राम के अतिक्रम करने पर एक ऊँचे स्थान पर बने हुए मन्दिरों ने हमारी दृष्टि को आकर्षित किया। यह सब राठौर राजा लोगों के समाधि-मन्दिर हैं; मरुक्षेत्र के चिरस्मरणीय अधीश्वरों के शव जिस-जिस स्थान पर रानियों के साथ भस्मीभूत किये गये थे, उस-उस स्थान पर उनके स्मरणार्थ यह मन्दिरावली बनाई गई है। दक्षिण से उत्तर की ओर तक जितने प्रधान मन्दिर हैं; यह क्षुद्र नदी उनके दक्षिण में होकर मन्द चाल से चलती है। पूर्वोक्त मन्दिर-श्रेणी के आरम्भ में सुविख्यात राव मालदेव का स्मारक मन्दिर है, उसमें उनकी विक्रम-प्रताप-गौरवोचित मूर्ति स्थापित है। साहसी शेरशाह जिसने बड़ी वीरता के साथ मुग़ल सिंहासन पर आक्रमण किया था, इन मालदेव ने बड़े विक्रम के साथ उस शेरशाह के विरुद्ध तलवार चलाई थी। सब से अन्त में

महाराज अजितसिंह का स्मारक मन्दिर है, और बीच में सूरसिंह उदयसिंह, गजसिंह और यशवन्तसिंह आदि के स्मारक मन्दिर दिखाई देते हैं।

जातीय इतिहास की मूल आख्यायिका स्वरूप इस स्मारक-मन्दिरावली ने मारवाड़ की गौरव-गरिमा का समय निर्द्धारण कर दिया है। मालदेव के समय के राठौर-कीर्ति-भूधर-शृङ्ग आकाश भेद कर के अजितसिंह के पुत्रों की शासन-लीला तक नीचे झुके रहे। वीरवर मालदेव का स्मारक-मन्दिर जो बहुत सीधे और सामान्य भाव से बना हुआ है और जिसने चण्ड और योध के स्मारक-मन्दिरों को अपनी छाया में ढक लिया है, उस मन्दिर के साथ राजा अजित के स्मरणार्थ बने हुए परम रमणीय महल की तुलना करने पर हम स्वयं ही समझ सकते हैं कि इस मरुक्षेत्र में बाहिरी सौन्दर्य और विलासिता क्रमशः बढ़ती गई है। जो मालदेव अमित तेज के साथ अफ़ग़ान-सम्राट् के विरुद्ध युद्ध करने को खड़े हुए थे, (अफ़ग़ान-सम्राट की चिरस्मरणीय उक्ति "मैंने एक मुट्ठी गेहूँ के लिये भारत-सिंहासन खो दिया था" यह प्रगट कर रही है कि उस समय सम्राट् ने जिन राठौर लोगों पर आक्रमण किया था वह महा दीन दशा-युक्त और महावीर थे)। उनके समय से लेकर अजितसिंह के शासन समय तक इन स्मारक-मन्दिरों की आकृति परिवर्धित और सुन्दरता-युक्त की गई। राजा गज के स्मारक-मन्दिर के साथ उनके उत्तराधिकारी के मन्दिर की तुलना करने पर गज का मन्दिर सरल और साधारण मालूम होता है। यह सम्पूर्ण मंन्दिर लाल रंग के छोटे-छोटे पत्थरों से बने हैं। यह पत्थर इतने कोमल हैं कि इन पर बेल-बूटा खोदने में कारीगरों को कुछ भी श्रम नहीं होता। इन मन्दिरों की गठन-प्रणाली शिव और बुद्ध दोनों के मन्दिरों के समान है; किन्तु अधिक भाग

और विशेष करके स्तम्भ-श्रेणी जैनियों के अनुकरण में कमल-मीर के स्तम्भों के समान बनी है। विशेष करके मैं राजा यशवन्तसिंह और अजितसिंह के स्मारक-मन्दिरों के विषय में कहता हूँ। राजा प्रधान द्वारा इन दोनों मन्दिरों का नक्शा तैयार करा के योरुप में लाया हूँ, किन्तु खुदाई के काम में बहुत धन ख़र्च होता है। साफ़ और ऊँचे पाषाण-स्तूपों के ऊपर यह मन्दिर स्थापित है। यशवन्तसिंह का मन्दिर कुछ अधिक दृढ़ है, किन्तु आकृति और परिमाण में ठीक अजितसिंह के स्मारक-मन्दिर के समान है।

मन्दिर के सन्मुख आँगन में होकर स्मरणीय स्तम्भों से शोभित सम्पूर्ण चाँदनी के प्रदेश द्वारों से होते हुए भीतर के प्रधान मन्दिर में पहुँचना होता है; शिवालय के समान यह चार तल ऊँचा और शिखर तथा कलश युक्त है। गठन और खोदित भास्कर-कार्य प्रशंसा के योग्य है; मन्दिर के मूल में और उर्ध्व-भाग के अनेक स्थानों में जिस प्रकार अगणित स्तम्भ शोभाय-मान हैं, देखने में भी उसी प्रकार मनोहर हैं। यह स्मारक-मन्दिर ईजिप्ट के प्राचीन मन्दिरों के समान हैं। इन स्मारक-मन्दिरों के साथ-साथ स्मरणीय राजकुल के ऊपर दृष्टि डालने पर सहज में ही यह ज्ञात हो सकता है कि इस मारवाड़-राजवंश में जिस प्रकार उपर्युक्त महावीरों ने जन्म लिया था उस प्रकार किसी देश के किसी इतिहास में भी नहीं दिखाई देता। उन राजा लोगों की नामावली के साथ हम मेवाड़ के सुप्र-तिष्ठित वंश वाले राणा-गण और तैमूर-वंश के सुप्रसिद्ध उत्त-राधिकारियों की नामावली संयुक्त करके बड़े अभिमान के साथ योरुप के राजा लोगों से पूछते हैं कि योरुप में किसी समय एक काल में क्या ऐसे महावीर सुशासन-कर्त्ता और विद्वानों ने जन्म लिया था?

मेवाड़	मारवाड़	दिल्ली
राणा सांगा	राव मालदेव राव सूरसिंह	बाबर और शेरशाह हुमायूँ
राणाप्रतापसिंह	राजा उदयसिंह	अकबर
राणा अमरसिंह (१) राणा कर्णसिंह	राजा गजसिंह	जहाँगीर और शाहजहाँ
राणा राजसिंह	राजा यशवंतसिंह	औरङ्गज़ेब
राणा जयसिंह राणा अमरसिंह (२)	राजा अजितसिंह	फर्रुख़सियर के परवर्ती दिल्ली के सिंहासन-प्रार्थीगण

मालदेव और अकबर के मित्र और मारवाड़ के प्रथम राजोपाधि-धारी (इससे पहिले रावों की उपाधि थी) उदयसिंह से आरम्भ करके औरङ्गज़ेब के प्रबल शत्रु यशवन्तसिंह और अजितसिंह (जिन्होंने निज बाहुबल से मुग़लों के भयंकर अत्याचार से अपने राज्य का उद्धार किया) आदि यह सभी राजा बड़े वीर और स्वदेश-हितैषी थे।

पाठ ९

रानी सारन्धा

(१)

अँधेरी रात के सन्नाटे में धसान नदी चट्टानों से टकराती हुई ऐसी सुहावनी मालूम होती थी, जैसे घुमुर-घुमुर करती हुई चक्कियाँ। नदी के दाहिने तट पर एक टीला है। उस पर एक पुराना दुर्ग बना हुआ है, जिसको जङ्गली वृक्षों ने घेर रक्खा है। टीले के पूर्व की ओर एक छोटा-सा गाँव है। यह गढ़ी और गाँव

दोनों एक बुन्देला सरदार के कीर्ति-चिह्न हैं। शताब्दियाँ व्यतीत हो गईं, बुन्देलखण्ड में कितने ही राज्यों का उदय और अस्त हुआ, मुसलमान आये और गये, बुन्देला राजा उठे और गिरे, कोई गाँव, कोई इलाक़ा, ऐसा न था जो इन दुर्व्यवस्थाओं से पीड़ित न हो, मगर इस दुर्ग पर किसी शत्रु की विजय-पताका न लहराई और न इस गाँव में किसी विद्रोह का ही पदार्पण हुआ। यह उसका सौभाग्य था।

अनिरुद्धसिंह वीर राजपूत था। वह ज़माना ही ऐसा था, जब मनुष्य-मात्र को अपने बाहु-बल और पराक्रम ही का भरोसा था। एक ओर मुसलमान सेनाएँ पैर जमाये खड़ी रहती थीं, दूसरी ओर बलवान् राजा अपने निर्बल भाइयों का गला घोंटने पर तत्पर रहते थे। अनिरुद्धसिंह के पास सवारों और पियादों का एक छोटा सा मगर सजीव दल था। इससे वह अपने कुल और मर्यादा की रक्षा किया करता था। उसे कभी चैन से बैठना नसीब न होता था। तीन वर्ष पहले उसका विवाह शीतलादेवी से हुआ, मगर अनिरुद्ध विहार के दिन और विलास की रातें पहाड़ों में काटता था और शीतला उसकी जान की खैर मनाने में। वह कितनी बार पति से अनुरोध कर चुकी थी, कितनी बार उसके पैरों पर गिर कर रोई थी, कि तुम मेरी आँखों से दूर न हो, मुझे हरिद्वार ले चलो, मुझे तुम्हारे साथ वनवास अच्छा है, मगर यह वियोग अब नहीं सहा जाता। उसने प्यार से कहा, जिद से कहा, विनय की, मगर अनिरुद्ध बुन्देला था। शीतला अपने किसी हथियार से उसे परास्त न कर सकी।

(२)

अँधेरी रात थी। सारी दुनियाँ सोती थी, मगर तारे आकाश में जागते थे। शीतलादेवी पलँग पर पड़ी करवटें बदल रही थी,

और उसकी ननद सारन्धा फ़र्श पर बैठी हुई मधुर स्वर से गाती थी:—

बिन रघुवीर कटति नहिं रैन।

शीतला ने कहा—जी न जलाओ। क्या तुम्हें भी नींद नहीं आती ?

सारन्धा—तुम्हें लोरी सुना रही हूँ।

शीतला—मेरी आँखों से तो नींद लोप हो गई।

सारन्धा—किसी को ढूँढ़ने गई होंगी।

इतने में द्वार खुला और एक गठे हुए बदन के रूपवान् पुरुष ने भीतर प्रवेश किया। यह अनिरुद्ध था। उसके कपड़े भीगे हुए थे और हाथ में कोई हथियार न था। शीतला चारपाई से उतर कर ज़मीन पर बैठ गई।

सारन्धा ने पूछा—भैया, यह कपड़े भीगे क्यों हैं ?

अनिरुद्ध—नदी पैर कर आया हूँ।

सारन्धा—हथियार क्या हुए ?

अनिरुद्ध—छिन गये।

सारन्धा—और साथ के आदमी ?

अनिरुद्ध—सब ने वीर-गति पाई।

शीतला ने दबी ज़बान से कहा—"ईश्वर ने ही कुशल किया········"। मगर सारन्धा के तीवरों पर बल पड़ गये और मुख-मण्डल गर्व से सतेज हो गया। बोली—"भैया, तुमने कुल की मर्यादा खो दी। ऐसा कभी न हुआ था।

सारन्धा भाई पर जान देती थी। उसके मुँह से यह धिक्कार सुन कर अनिरुद्ध लज्जा और खेद से विकल हो गया। वह वीराग्नि जिसे क्षण भर के लिये अनुराग ने दबा लिया था, फिर

ज्वलन्त हो गई। वह उल्टे पाँव लौटा और यह कह कर बाहर चला गया कि "सारन्धा, तुमने मुझे सदैव के लिये सचेत कर दिया। यह बात मुझे कभी नहीं भूलेगी।"

अँधेरी रात थी। आकाश-मण्डल में तारों का प्रकाश बहुत धुँधला था। अनिरुद्ध क़िले से बाहर निकला। पल भर में नदी के उस पार जा पहुँचा, और फिर अन्धकार में लुप्त हो गया। शीतला उसके पीछे-पीछे क़िले की दीवारों तक आई, मगर जब अनिरुद्ध छलाँग मार कर कूद पड़ा, तो वह विरहिणी एक चट्टान पर बैठ कर रोने लगी।

इतने में सारन्धा भी वहीं आ पहुँची। शीतला ने नागिन की तरह बल खाकर कहा—मर्यादा इतनी प्यारी है?

सारन्धा—हाँ!

शीतला—अपना पति होता, तो हृदय में छिपा लेतीं।

सारन्धा—न, छाती में छुरी चुभा देती।

शीतला ने ऐंठ कर कहा—डोली में छिपाती फिरोगी, मेरी बात गिरह में बाँध लो।

सारन्धा—जिस दिन ऐसा होगा; मैं भी अपना वचन पूरा कर दिखाऊँगी।

इस घटना के तीन महीने पीछे अनिरुद्ध महरौना को जीत कर के लौटा और साल भर पीछे सारन्धा का विवाह ओरछा के राजा चम्पतराय से हो गया। मगर उस दिन की बातें दोनों महिलाओं के हृदय-स्थल में काँटे की तरह खटकती रहीं।

(३)

राजा चम्पतराय बड़े प्रतिभाशाली पुरुष थे। सारी बुन्देला जाति उनके नाम पर जान देती थी और उनके प्रभुत्व को मानती थी। गद्दी पर बैठते ही उन्होंने मुग़ल बादशाहों को कर

देना बन्द कर दिया और अपने बाहुबल से राज्य-विस्तार करने लगे। मुसलमानों की सेनाएँ बार-बार उन पर हमले करती थीं; पर हार कर लौट जाती थीं।

यही समय था, जब अनिरुद्ध ने सारन्धा का चम्पतराय से विवाह कर दिया। सारन्धा ने मुँह माँगी मुराद पाई। उसकी यह अभिलाषा, कि मेरा पति बुँदेला जाति का कुल-तिलक हो, पूरी हुई। यद्यपि राजा के रनिवास में पाँच रानियाँ थीं, मगर उन्हें शीघ्र ही मालूम हो गया कि वह देवी जो हृदय में मेरी पूजा करती है, सारन्धा है।

परन्तु कुछ ऐसी घटनाएँ हुईं कि चम्पतराय को मुग़ल-बादशाह का आश्रित होना पड़ा। वह अपना राज्य अपने भाई पहाड़सिंह को सौंप कर आप देहली को चला गया। वह शाहजहाँ के शासन-काल का अन्तिम भाग था। शाहज़ादा दाराशिकोह राजकीय कार्यों को सँभालते थे। युवराज की आँखों में शील था और चित्त में उदारता थी। उन्होंने चम्पतराय की वीरता की कथाएँ सुनी थीं, इसलिये उनका बहुत आदर सम्मान किया, और कालपी की बहुमूल्य जागीर उनके भेंट की, जिस की आमदनी नौ लाख थी। यह पहला अवसर था कि चम्पतराय को आये दिन की लड़ाई-झगड़े से निवृत्ति मिली और उसके साथ ही भोग-विलास का प्राबल्य हुआ। रात-दिन आमोद-प्रमोद की चर्चा रहने लगी। राजा विलास में डूबे, रानियाँ जड़ाऊ गहनों पर रीझीं। मगर सारन्धा इन दिनों बहुत उदास और संकुचित रहती। वह इन रहस्यों से दूर-दूर रहती, ये नृत्य और गान की सभाएँ उसे सूनी प्रतीत होतीं।

एक दिन चम्पतराय ने सारन्धा से कहा—सारन, तुम उदास क्यों रहती हो? मैं तुम्हें कभी हँसते नहीं देखता। क्या मुझसे नाराज़ हो?

सारन्धा की आँखों में जल भर आया। बोली—स्वामीजी! आप ऐसा क्यों विचार करते हैं? जहाँ आप प्रसन्न हैं, वहाँ मैं भी खुश हूँ।

चम्पतराय—मैं जब से यहाँ आया हूँ, मैंने तुम्हारे मुख-कमल पर कभी मनोहारिणी मुस्कराहट नहीं देखी। तुमने कभी अपने हाथों से मुझे बीड़ा नहीं खिलाया। कभी मेरी पाग नहीं सँवारी। कभी मेरे शरीर पर शस्त्र नहीं सजाये। कहीं प्रेम-लता मुरझाने तो नहीं लगी?

सारन्धा—प्राणनाथ! आप मुझसे ऐसी बात पूछते हैं, जिसका उत्तर मेरे पास नहीं है। यथार्थ में इन दिनों मेरा चित्त कुछ उदास रहता है। मैं बहुत चाहती हूँ कि खुश रहूँ, मगर एक बोझा-सा हृदय पर धरा रहता है।

चम्पतराय स्वयं आनन्द में मग्न थे। इसलिये उनके विचार में सारन्धा को असन्तुष्ट रहने का कोई उचित कारण नहीं हो सकता था। वे भौंहें सिकोड़ कर बोले—मुझे तुम्हारे उदास रहने का कोई विशेष कारण नहीं मालूम होता। ओरछे में कौनसा सुख था, जो यहाँ नहीं हैं? सारन्धा का चेहरा लाल हो गया। बोली—मैं कुछ कहूँ, आप नाराज़ तो न होंगे?

चम्पतराय—नहीं, शौक़ से कहो।

सारन्धा—ओरछा में मैं एक राजा की रानी थी। यहाँ मैं एक जागीरदार की चेरी हूँ। ओरछा में मैं वह थी जो अवध में कौशल्या थीं। परन्तु यहाँ मैं बादशाह के एक सेवक की स्त्री हूँ। जिस बादशाह के सामने आज आप आदर से सिर झुकाते हैं, वह कल आपके नाम से काँपता था। रानी से चेरी होकर भी प्रसन्न-चित्त होना मेरे वश में नहीं है। आपने यह पद और ये विलास की सामग्रियाँ बड़े महँगे दामों में मोल ली हैं।

चम्पतराय के नेत्रों से एक पर्दा-सा हट गया। वे अब तक सारन्धा की आत्मिक उच्चता को न जानते थे। जैसे बे माँ-बाप का बालक माँ की चर्चा सुन कर रोने लगता है, उसी तरह ओरछा की याद से चम्पतराय की आँखें सजल हो गईं। उन्होंने आदर-युक्त अनुराग के साथ सारन्धा को हृदय से लगा लिया।

आज से उन्हें फिर उसी उजड़ी बस्ती की फिक्र हुई, जहाँ से धन और कीर्ति की अभिलाषाएँ खींच लाई थीं।

(४)

माँ अपने सोये हुए बालक को पाकर निहाल हो जाती है। चम्पतराय के आने से बुन्देलखण्ड निहाल हो गया। ओरछा के भाग जगे। नौबतें झड़ने लगीं, और फिर सारन्धा के कमल-नेत्रों में जातीय अभिमान का आभास दिखाई देने लगा।

यहाँ रहते कई महीने बीत गये। इसी बीच में शाहजहाँ बीमार पड़ा। शाहज़ादाओं में पहले से ईर्ष्या की अग्नि दहक रही थी। यह खबर सुनते ही ज्वाला प्रचण्ड हुई। संग्राम की तैया-रियाँ होने लगीं। शाहज़ादा मुराद और मुहीउद्दीन अपने-अपने दल सजाकर दक्खिन से चले। वर्षा के दिन थे। उर्वरा भूमि रंग-विरंग के रूप भर कर अपने सौन्दर्य को दिखाती थी।

मुराद और मुहीउद्दीन उमंगों से भरे हुए कदम बढ़ाते चले आते थे। यहाँ तक कि वे धौलपुर के निकट चम्बल के तट पर आ पहुँचे। परन्तु यहाँ उन्होंने बादशाही सेना को अपने शुभा-गमन के निमित्त तैयार पाया।

शाहज़ादे अब बड़ी चिन्ता में पड़े। सामने अगम्य नदी लहर मार रही थी, लोभ से भी अधिक विस्तार वाली। घाट पर लोहे की दीवार खड़ी थी, किसी योगी के त्याग के सदृश सुदृढ़। विवश

होकर चम्पतराय के पास सन्देशा भेजा कि ख़ुदा के लिये आकर हमारी डूबती हुई नाव को पार लगाइये।

राजा ने भवन में जाकर सारन्धा से पूछा—इसका क्या उत्तर दूँ ?

सारन्धा—आपको मदद करनी होगी।

चम्पतराय—उनकी मदद करना दाराशिकोह से बैर लेना है।

सारन्धा—यह सत्य है परन्तु हाथ फैलाने की मर्यादा भी तो निभानी चाहिये।

चम्पतराय—प्रिये ! तुमने सोचकर जवाब नहीं दिया।

सारन्धा—प्राणनाथ ! मैं अच्छी तरह जानती हूँ कि यह मार्ग कठिन है और हमें अपने योद्धाओं का रक्त पानी के समान बहाना पड़ेगा। परन्तु हम अपना रक्त बहायेंगे, और चम्बल की लहरों को लाल कर देंगे। विश्वास रखिये कि जब तक नदी की धारा बहती रहेगी, वह हमारे वीरों की कीर्ति-गान करती रहेगी। जब तक बुन्देलों का एक भी नामलेवा रहेगा, यह रक्त-बिन्दु उसके माथे पर केशर का तिलक बन कर चमकेगा।

वायु-मण्डल में मेघराज की सेनाएँ उमड़ रही थीं। ओरछे के क़िले से बुन्देलों की एक काली घटा उठी और वेग के साथ चम्बल की तरफ चली। प्रत्येक सिपाही वीर-रस से झूम रहा था। सारन्धा ने दोनों राजकुमारों को गले से लगा लिया और राजा को पान का बीड़ा देकर कहा—"बुन्देलों की लाज अब तुम्हारे हाथ है।"

आज उसका एक-एक अङ्ग मुस्करा रहा है और हृदय हुलसित है। बुन्देलों की यह सेना देखकर शाहज़ादे फूले न समाये। राजा वहाँ की अँगुल-अँगुल भूमि से परिचित थे। उन्होंने

बुन्देलों को तो एक आड़ में छिपा दिया और वे शाहज़ादों की फ़ौज को सजा कर नदी के किनारे-किनारे पश्चिम की ओर चले। दाराशिकोह को भ्रम हुआ कि शत्रु किसी अन्य घाट से नदी उतरना चाहता है। उन्होंने घाट पर से मोर्चे हटा लिये। घाट में बैठे हुए बुन्देले इसी ताक में थे। बाहर निकल पड़े और उन्होंने तुरन्त ही नदी में घोड़े डाल दिये। चम्पतराय ने शाहज़ादा दाराशिकोह को भुलावा देकर अपनी फ़ौज घुमा दी और वह बुन्देलों के पीछे चलता हुआ उसे पार उतार लाया। इस कठिन चाल में सात घण्टों का विलम्ब हुआ; परन्तु जाकर देखा, तो सात सौ बुन्देला योद्धाओं की लाशें फड़क रही थीं।

राजा को देखते ही बुन्देलों की हिम्मत बँध गई। शाहज़ादा की सेना ने भी 'अल्लाहो-अकबर' की ध्वनि के साथ धावा किया। बादशाही सेना में हलचल मच गई। उसकी पँक्तियाँ छिन्न-भिन्न होगईं, हाथों-हाथ लड़ाई होने लगी, यहाँ तक कि शाम होगई। रण-भूमि रुधिर से लाल होगई और आकाश में अँधेरा होगया। घमासान की मार होरही थी। बादशाही सेना शाहज़ादों को दबाये आती थी। अकस्मात् पश्चिम से फिर बुन्देलों की एक लहर उठी और इस वेग से बादशाही सेना के पुश्त पर टकराई कि उसके क़दम उखड़ गये। जीता हुआ मैदान हाथ से निकल गया। लोगों को कौतूहल था कि यह दैवी सहायता कहाँ से आई। सरल स्वभाव के लोगों की धारणा थी, कि यह फ़तह के फ़रिश्ते हैं, शाहज़ादों की मदद के लिये आये हैं; परन्तु जब राजा चम्पतराय निकट गये, तो सारन्धा ने घोड़े से उतर कर उनके पद पर सर झुका दिया। राजा को असीम आनन्द हुआ। यह सारन्धा थी।

समर-भूमि का दृश्य इस समय अत्यन्त दुःखमय था। थोड़ी देर पहले जहाँ सजे हुए वीरों के दल थे, वहाँ अब बेजान

लाशें फड़क रही थीं। मनुष्य ने अपने स्वार्थ के लिये आदि से ही भाइयों की हत्या की है।

अब विजयी सेना लूट पर टूटी। पहिले मर्द मर्दों से लड़ते थे, अब वे मुर्दों से लड़ रहे थे। वह वीरता और पराक्रम का चित्र था, यह नीचता और दुर्बलता की ग्लानि-प्रद तसवीर थी। उस समय मनुष्य पशु बना हुआ था, अब वह पशु से भी बढ़ गया था।

इस नोच-खसोट में लोगों को बादशाही सेना के सेनापति वली-बहादुरखाँ की लाश दिखाई दी। उसके निकट उसका घोड़ा खड़ा हुआ अपनी दुम से मक्खियाँ उड़ा रहा था। राजा को घोड़ों का शौक़ था। देखते ही उस पर मोहित होगया। यह एरा की जाति का अति सुन्दर घोड़ा था। एक एक अंग साँचे में ढला हुआ, सिंह की सी छाती, चीते की सी कमर, उसका यह प्रेम और स्वामिभक्ति देख कर लोगों को बड़ा कौतूहल हुआ। राजा ने हुक्म दिया—"खबरदार! इस प्रेमी पर कोई हथियार न चलाये, इसे जीता पकड़ लो, यह मेरे अस्तबल की शोभा बढ़ायेगा। जो इसे मेरे पास लायेगा—उसे धन से निहाल कर दूँगा।"

योद्धागण चारो ओर से लपके; परन्तु किसी को साहस न होता था कि उसके निकट जा सके। कोई चुमकारता था, कोई फन्दे में फँसाने की फिक्र में था, पर कोई उपाय सफल न होता था। वहाँ सिपाहियों का एक मेला-सा लगा हुआ था।

तब सारन्धा अपने खेमें से निकली और निर्भय होकर घोड़े के पास चली गई। उसकी आँखों में प्रेम का प्रकाश था, छल का नहीं। घोड़े ने सिर झुका दिया। रानी ने उसकी गर्दन पर हाथ रक्खा, और वह उसकी पीठ सहलाने लगी। घोड़े ने उसके

अञ्चल में मुँह छिपा लिया। रानी उसकी रास पकड़ कर खेमे की ओर चली। घोड़ा इस तरह चुपचाप उसके पीछे चला, मानों सदैव से उसका सेवक है।

पर बहुत अच्छा होता कि घोड़े ने सारन्धा से भी निष्ठुरता की होती। यह सुन्दर घोड़ा आगे चल कर इस राज-परिवार के निमित्त रत्न-जटित मृग प्रतीत हुआ।

(५)

संसार एक रण-क्षेत्र है। इस मैदान में उस सेनापति को विजय-लाभ होता है, जो अवसर को पहचानता है। वह अवसर देख कर जितने उत्साह से आगे बढ़ता है, उतने ही उत्साह से आपत्ति के समय पर पीछे हट जाता है। वह वीर पुरुष राष्ट्र का निर्माता होता है, और इतिहास उसके नाम पर यश के फूलों की वर्षा करता है।

पर इस मैदान में कभी-कभी ऐसे सिपाही भी आजाते हैं, जो अवसर पर क़दम बढ़ाना जानते हैं, लेकिन संकट में पीछे हटना नहीं जानते। वह रणधीर पुरुष विजय को नीति के भेंट कर देता है। वह अपनी सेना का नाम मिटा देगा; किन्तु जहाँ एक बार पहुँच गया है, वहाँ से क़दम पीछे न हटायेगा। उनमें कोई विरला ही संसार-क्षेत्र में विजय प्राप्त करता है, किन्तु प्राय: उसकी हार विजय से भी गौरवात्मक होती है। अगर वह अनुभवशील सेनापति राष्ट्रों की नीव डालता है, तो यह आन पर जान देने वाला, यह मुँह न मोड़ने वाला सिपाही राष्ट्र के भावों को उच्च करता है, और उसके हृदय पर नैतिक गौरव को अङ्कित कर देता है। उसे इस कार्य्य-क्षेत्र में सफलता न हो, किन्तु जब किसी वाक्य या सभा में उसका नाम ज़बान पर आजाता है, तो श्रोतागण एक स्वर से उसके कृति-गौरव को प्रतिध्वनित कर देते हैं। सारन्धा इन्हीं 'आन पर जान देने वालों' में थी।

शाहज़ादा मुहीउद्दीन चम्बल के किनारे से आगरे की ओर चला तो सौभाग्य उसके शिर पर मोरछल हिलाता था। जब वह आगरे पहुँचा तो विजय देवी ने उसके लिये सिंहासन सजा दिया।

औरङ्गज़ेब गुणज्ञ था। उसने बादशाही सरदारों के अपराध क्षमा कर दिये, उनके राज्य-पद लौटा दिये और राजा चम्पतराय को उसके बहुमूल्य कृत्यों के उपलक्ष में 'बारह हज़ारी मन्सब' प्रदान किया। ओरछा से बनारस और बनारस से यमुना तक उसकी जागीर नियत की गई। बुन्देला राजा फिर राज्य-सेवक बना, वह फिर सुख-विलास में डूबा, और रानी सारन्धा फिर पराधीनता के शोक से घुलने लगी।

वली-बहादुरखाँ बड़ा वाक्य-चतुर मनुष्य था। उसकी मृदुलता ने शीघ्र ही उसे बादशाह आलमगीर का विश्वासपात्र बना दिया। उस पर राज-सभा में सलाम की दृष्टि पड़ने लगी।

खाँ साहब के मन में अपने घोड़े के हाथ से निकल जाने का बड़ा शोक था। एक दिन कुँवर छत्रसाल उसी घोड़े पर सवार होकर सैर को गया था। वह खाँ साहब के महल की तरफ़ जा निकला। वली-बहादुरखाँ ऐसे ही अवसर की ताक में था। उसने तुरन्त अपने सेवकों को इशारा किया। राजकुमार अकेला क्या करता! पाँव-पाँव घर आया, और उसने सारन्धा से सब समाचार बयान किया। रानी का चेहरा तमतमा गया। बोली— "मुझे इसका शोक नहीं कि घोड़ा हाथ से गया; शोक इसका है कि तू उसे खोकर जीता क्यों लौटा? क्या तेरे शरीर में बुन्देलों का रक्त नहीं है? घोड़ा न मिलता न सही, किन्तु तुझे दिखा देना चाहिये था कि एक बुन्देला बालक से उसका घोड़ा छीन लेना हँसी नहीं है।"

यह कह कर उसने अपने पचीस योद्धाओं को तैयार होने की आज्ञा दी, स्वयं अस्त्र धारण किये और योद्धाओं के साथ वली-बहादुरखाँ के निवास-स्थान पर पहुँची। खाँ साहब उसी घोड़े पर सवार हो कर दरबार चले गये थे। सारन्धा दरबार की तरफ़ चली, और एक क्षण में किसी वेगवती नदी के सदृश ही बादशाही दरबार के सामने जा पहुँची। यह कैफ़ियत देखते ही दरबार में हलचल मच गई। अधिकारी-वर्ग इधर उधर से आकर जमा होगये। आलमगीर भी सहन में निकल आये। लोग अपनी-अपनी तलवारें सम्भालने लगे और चारों तरफ़ शोर मच गया। कितने ही नेत्रों ने इसी दरबार में अमरसिंह की तलवार की चमक देखी थी। उन्हें वही घटना फिर याद आगई।

सारन्धा ने उच्च स्वर से कहा—"खाँ साहब बड़ी लज्जा की बात है कि आपने वह वीरता, जो चम्बल के तट पर दिखानी चाहिये थी, आज एक अबोध बालक के सन्मुख दिखाई है। क्या यह उचित था कि आप उससे घोड़ा छीन लेते?"

वली-बहादुरखाँ की आँखों से अग्नि-ज्वाला निकल रही थी। वे कड़ी आवाज़ से बोले—"किसी ग़ैर को क्या मजाज़ कि मेरी चीज़ अपने काम में लाये?"

रानी—यह आपकी चीज़ नहीं, मेरी है। मैंने उसे रणभूमि में पाया है, और उस पर मेरा अधिकार है। क्या रणनीति की इतनी मोटी बात भी आप नहीं जानते?

खाँ साहब—वह घोड़ा मैं नहीं दे सकता, उसके बदले में सारा अस्तबल आपकी नज़र है।

रानी—मैं अपना घोड़ा लूँगी।

खाँ साहब—मैं उसके बराबर जवाहरात दे सकता हूँ, परन्तु घोड़ा नहीं दे सकता।

रानी—तो फिर इसका निश्चय तलवारों से होगा।

बुन्देला योद्धाओं ने तलवारें सौंत लीं और निकट था कि दरबार की भूमि रक्त से प्लावित हो जाय कि बादशाह आलमगीर ने बीच में आकर कहा—"रानी साहबा! आप सिपाहियों को रोकें। घोड़ा आपको मिल जायगा, परन्तु उसका मूल्य बहुत देना पड़ेगा।

रानी—मैं उसके लिये अपना सर्वस्व त्यागने पर तैयार हूँ।

बादशाह—जागीर और मन्सब भी ?

रानी—जागीर और मन्सब कोई चीज़ नहीं।

बादशाह—अपना राज्य भी ?

रानी—हाँ राज्य भी।

बादशाह—एक घोड़े के लिये ?

रानी—उस पदार्थ के लिये जो संसार में सबसे अधिक मूल्यवान् है।

बादशाह—वह क्या है ?

रानी—अपनी आन।

इस भाँति रानी ने एक घोड़े के लिये अपनी विस्तृत जागीर, उच्च राज्य-पद और राज-सन्मान सब हाथ से खोया और केवल इतना ही नहीं, भविष्य के लिये काँटे भी बोये। इस घड़ी से अन्त दशा तक चम्पतराय को शान्ति न मिली।

(६)

राजा चम्पतराय ने फिर ओरछे के क़िले में पदार्पण किया। उन्हें मन्सब और जागीर के हाथ से निकल जाने का अत्यन्त शोक हुआ, किन्तु उन्होंने अपने मुँह से शिकायत का एक शब्द

भी नहीं निकाला। वे सारन्धा के स्वभाव को भली भाँति जानते थे। शिकायत इस समय उसके आत्म-गौरव पर कुठार का काम करती। कुछ दिन यहाँ शान्ति-पूर्वक व्यतीत हुए। लेकिन बादशाह सारन्धा की कठोर बातें भूला न था। वह क्षमा करना जानता ही न था। ज्योंही भाइयों की ओर से निश्चिन्त हुआ, उसने एक बड़ी सेना चम्पतराय का गर्व चूर्ण करने के निमित्त भेजी और बाईस अनुभवशील सरदार इस मुहीम पर नियुक्त किये। शुभकरण बुन्देला बादशाह का सूबेदार था। वह चम्पतराय का बचपन का मित्र और सहपाठी था। उसने चम्पतराय को परास्त करने का बीड़ा उठाया, और भी कितने ही बुन्देला सरदार राजा से विमुख होकर बादशाही सूबेदार से आ मिले। एक घोर संग्राम हुआ। भाइयों की तलवारें रक्त से लाल हुईं। यद्यपि इस समर में राजा को विजय प्राप्त हुई, लेकिन उनकी शक्ति सदा के लिये क्षीण हो गई। निकटवर्ती बुन्देला राजा जो चम्पतराय के बाहुबल थे, बादशाह के कृपाकाँक्षी बन बैठे। साथियों में कुछ तो काम आये, कुछ दग़ा कर गये। यहाँ तक कि निज सम्बन्धियों ने भी आँखें चुरा लीं। परन्तु इन कठिनाइयों में भी चम्पतराय ने हिम्मत नहीं हारी। धीरज को न छोड़ा। उन्होंने ओरछा छोड़ दिया, और तीन वर्ष तक बुन्देलखण्ड के सघन पर्वतों पर छिपे फिरते रहे। बादशाही सेनाऐं शिकारी जानवरों की भाँति सारे देश में मँड़रा रही थीं। आए दिन राजा का किसी न किसी से सामना हो जाता था। सारन्धा सदैव उनके साथ रहती, और उनका साहस बढ़ाया करती। बड़ी-बड़ी आपत्तियों में भी जब कि धैर्य लुप्त हो जाता—और आशा साथ छोड़ देती—आत्मरक्षा का धर्म उसे सँभाले रहता था। तीन साल के बाद अन्त में बादशाह के सूबेदारों ने आलमगीर को

सूचना दी कि इस शेर का शिकार आपके सिवाय और किसी से न होगा। उत्तर आया कि सेना को हटालो, और घेरा उठा लो। राजा ने समझा, सङ्कट से निवृत्ति हुई, पर यह बात शीघ्र ही भ्रमात्मक सिद्ध हो गई।

(७)

तीन सप्ताह से बादशाही सेना ने ओरछा घेर रक्खा है। जिस तरह कठोर वचन हृदय को छेद डालते हैं, उसी तरह तोपों के गोलों ने दीवारों को छेद डाला है। क़िले में २० हज़ार आदमी घिरे हुए हैं, लेकिन उनमें आधे से अधिक स्त्रियाँ और उनसे कुछ ही कम बालक हैं। मर्दों की संख्या दिनोदिन न्यून होती जाती है। आने-जाने के मार्ग चारों तरफ़ से बन्द हैं। हवा का भी गुज़र नहीं। रसद का सामान बहुत कम रह गया है। स्त्रियाँ, पुरुषों और बालकों को जीवित रखने के लिये आप उपवास करती हैं। लोग बहुत हताश हो रहे हैं। औरतें सूर्यनारायण की ओर हाथ उठा-उठा कर शत्रु को कोसती हैं। बालकवृन्द मारे क्रोध के दीवारों की आड़ से उन पर पत्थर फेंकते हैं, जो मुश्किल से दीवार के उस पार जाते हैं। राजा चम्पतराय स्वयं ज्वर से पीड़ित हैं। उन्होंने कई दिन से चारपाई नहीं छोड़ी। उन्हें देख कर लोगों को कुछ ढाढ़स होता था, लेकिन उनकी बीमारी से सारे क़िले में नैराश्य छाया हुआ है।

राजा ने सारन्धा से कहा—आज शत्रु ज़रूर क़िले में घुस आयँगे।

सारन्धा—ईश्वर न करे कि इन आँखों से वह दिन देखना पड़े।

राजा—मुझे बड़ी चिन्ता इन अनाथ स्त्रियों और बालकों की है। गेहूँ के साथ यह घुन भी पिस जायँगे।

सारन्धा—हम लोग यहाँ से निकल जायँ तो कैसा ?

राजा—इन अनाथों को छोड़ कर ?

सारन्धा—इस समय इन्हें छोड़ देने ही में कुशल है। हम न होंगे, तो शत्रु इन पर कुछ दया अवश्य ही करेंगे।

राजा—नहीं, यह लोग मुझसे न छोड़े जायँगे। जिन मर्दों ने अपनी जान हमारी सेवा में अर्पण कर दी है, उनकी स्त्रियों और बच्चों को मैं यों कदापि नहीं छोड़ सकता।

सारन्धा—लेकिन यहाँ रहकर हम उनकी कुछ मदद भी तो नहीं कर सकते।

राजा—उनके साथ प्राण तो दे सकते हैं? मैं उनकी रक्षा में अपनी जान लड़ा दूँगा। उनके लिये बादशाही सेना की खुशामद करूँगा। कारावास की कठिनाइयाँ सहूँगा, किन्तु इस सङ्कट में उन्हें छोड़ नहीं सकता।

सारन्धा ने लज्जित होकर सिर झुका लिया और सोचने लगी, निस्सन्देह अपने प्रिय साथियों को आग की आँच में छोड़ कर अपनी जान बचाना घोर नीचता है। मैं ऐसी स्वार्थान्ध क्यों हो गई हूँ? लेकिन फिर एकाएक विचार उत्पन्न हुआ। बोली—"यदि आपको विश्वास हो जाय कि इन आदमियों के साथ कोई अन्याय न किया जायगा, तब तो आपको चलने में कोई बाधा न होगी?"

राजा—(सोचकर) कौन विश्वास दिलायेगा?

सारन्धा—बादशाह के सेनापति का प्रतिज्ञा-पत्र।

राजा—हाँ, तब मैं सानन्द चलूँगा।

सारन्धा विचार-सागर में डूबी। बादशाह के सेनापति से क्योंकर यह प्रतिज्ञा कराऊँ? कौन यह प्रस्ताव लेकर वहाँ जायगा और वे निर्दयी ऐसी प्रतिज्ञा करने ही क्यों लगे। उन्हें तो अपनी विजय की पूर्ण आशा है। मेरे यहाँ ऐसा नीति-कुशल, वाक्पटु

चतुर कौन है, जो इस दुस्तर कार्य्य को सिद्ध करे। छत्रसाल चाहे तो कर सकता है। उसमें ये सब गुण मौजूद हैं।

इस तरह मन में निश्चय करके रानी ने छत्रसाल को बुलाया। यह उसके चारों पुत्रों में सब से बुद्धिमान् और साहसी था। रानी उसे सब से अधिक प्यार करती थी। जब छत्रसाल ने आकर रानी को प्रणाम किया तो उसके कमल-नेत्र सजल हो गये और हृदय से दीर्घ निःश्वास निकल आया।

छत्रसाल—माता, मेरे लिये क्या आज्ञा है ?

रानी—आज लड़ाई का क्या ढँग है ?

छत्रसाल—हमारे पचास योद्धा आज तक काम आ चुके हैं।

रानी—बुन्देलों की लाज अब ईश्वर के हाथ है।

छत्रसाल—हम आज रात को छापा मारेंगे।

रानी ने संक्षेप से अपना प्रस्ताव छत्रसाल के सामने उपस्थित किया और कहा—"यह काम किसको सौंपा जाये ?"

छत्रसाल—मुझको।

"तुम इसे पूरा कर दिखाओगे ?"

"हाँ, मुझे पूर्ण विश्वास है।"

"अच्छा जाओ, परमात्मा तुम्हारा मनोरथ पूरा करे।"

छत्रसाल जब चला तो रानी ने उसे हृदय से लगा लिया और तब आकाश की ओर दोनों हाथ उठाकर कहा—"दयानिधे !" मैंने अपना तरुण और होनहार पुत्र बुन्देलों की आन के आगे भेंट कर दिया। अब इस आन को निभाना तुम्हारा काम है। मैंने बड़ी मूल्यवान् वस्तु अर्पित की है। इसे स्वीकार करो।"

(८)

दूसरे दिन प्रातःकाल सारन्धा स्नान करके थाल में पूजा की सामग्री लिये मन्दिर को चली। उसका चेहरा पीला पड़ गया

था, और आँखों तले अँधेरा छाया जाता था। वह मन्दिर के द्वार पर पहुँची थी कि उसके थाल में बाहर से आकर एक तीर गिरा। तीर की नोक पर काग़ज़ का पुर्जा लिपटा हुआ था। सारन्धा ने थाल मन्दिर के चबूतरे पर रख दिया और पुर्जे को खोल कर देखा, तो आनन्द से चेहरा खिल गया। लेकिन यह आनन्द क्षण भर का मेहमान था। हाय! इस पुर्ज़े के लिये मैंने अपना प्रिय पुत्र हाथ से खो दिया। काग़ज़ के टुकड़े को इतने मँहगे दामों में किसने लिया होगा?

मन्दिर से लौट कर सारन्धा राजा चम्पतराय के पास गई और बोली—"प्राणनाथ! आपने जो वचन दिया था, उसे पूरा कीजिये।" राजा ने चौंक कर पूछा—"तुमने अपना वायदा पूरा कर लिया?" रानी ने वह प्रतिज्ञा-पत्र राजा को दे दिया। चम्पतराय ने उसे गौरव से देखा, फिर बोले—"अब मैं चलूँगा और ईश्वर ने चाहा, तो एक बार फिर शत्रुओं की ख़बर लूँगा। लेकिन सारन! सच बताओ इस पत्र के लिये क्या देना पड़ा?"

रानी ने कुण्ठित स्वर से कहा—"बहुत कुछ।"

राजा—सुनूँ?

रानी—एक जवान पुत्र।

राजा को बाण-सा लगा। पूछा—"कौन? अङ्गदराय?"

रानी—नहीं।

राजा—रतनसाह?

रानी—नहीं।

राजा—छत्रसाल?

रानी—हाँ।

जैसे कोई पक्षी गोली खा कर परों को फड़फड़ाता है और तब बेदम हो कर गिर पड़ता है, उसी भाँति चम्पतराय पलँग से उछले और फिर अचेत होकर गिर पड़े। छत्रसाल उनका परम प्रिय पुत्र था। उनके भविष्य की सारी कामनायें उसी पर अवलम्बित थीं। जब चेत हुआ तो बोले—"सारन ! तुमने बुरा किया। अगर छत्रसाल मारा गया, तो बुन्देला-वंश का नाश हो जायगा।"

अँधेरी रात थी। रानी सारन्धा घोड़े पर सवार चम्पतराय को पालकी में बैठाये किले के गुप्त मार्ग से निकली जाती थी। आज से बहुत काल पहिले एक दिन ऐसी ही अँधेरी, दुःखमय रात्रि थी, तब सारन्धा ने शीतलादेवी को कुछ कठोर वचन कहे थे। शीतलादेवी ने उस समय जो भविष्य वाणी की थी, वह आज पूरी हुई। क्या सारन्धा ने उसका जो उत्तर दिया था, वह भी पूरा होकर रहेगा ?

(६)

मध्याह्न था। सूर्यनारायण सिर पर आकर अग्नि की वर्षा कर रहे थे। शरीर को झुलसाने वाली प्रचण्ड, प्रखर वायु वन और पर्वतों में आग लगाती फिरती थी। ऐसा विदित होता था, मानो अग्निदेव की समस्त सेना गरजती हुई चली आ रही है। गगन-मण्डल इस भय से काँप रहा था। रानी सारन्धा घोड़े पर सवार, चम्पतराय को लिये, पश्चिम की तरफ चली जाती थी। ओरछा दस कोस पीछे छूट चुका था, और प्रतिक्षण यह अनुमान स्थिर होता जाता था कि अब हम भय के क्षेत्र से बाहर निकल आये। राजा पालकी में अचेत पड़े हुए थे और कहार पसीने में सराबोर थे। पालकी के पीछे पाँच सवार घोड़ा बढ़ाये चले आते थे, प्यास के मारे सबका बुरा हाल था। तालू सूखा

जाता था। किसी वृक्ष की छाँह और कुएँ की तलाश में आँखें चारों ओर दौड़ रही थीं।

अचानक सारन्धा ने पीछे की तरफ फिर कर देखा, तो उसे सवारों का एक दल आता हुआ दिखलाई दिया। उसका माथा ठनका कि अब कुशल नहीं है। ये लोग अवश्य हमारे शत्रु हैं। फिर विचार हुआ कि शायद मेरे राजकुमार अपने आदमियों को लिये हमारी सहायता को आ रहे हैं। नैराश्य में भी आशा साथ नहीं छोड़ती। कई मिनट तक वह इसी आशा और भय की अवस्था में रही। यहाँ तक कि वह दल निकट आ गया और सिपाहियों के वस्त्र साफ़ नज़र आने लगे। रानी ने एक ठन्डी साँस ली, उसका शरीर तृणवत् काँपने लगा। यह बादशाही सेना के लोग थे।

सारन्धा ने कहारों से कहा—डोली रोक लो। बुन्देला सिपाहियों ने तलवारें खींच लीं। राजा की अवस्था बहुत शोचनीय थी; किन्तु जैसे दबी हुई आग हवा लगते ही प्रदीप्त हो जाती है, उसी प्रकार इस संकट का ज्ञान होते ही उनके जर्जर शरीर में वीरात्मा चमक उठी। वे पालकी का पर्दा उठा कर बाहर आये। धनुष-बाण हाथ में ले लिया। किन्तु वह धनुष जो उनके हाथ में इन्द्र का वज्र बन जाता था, इस समय ज़रा भी न झुका। सिर में चक्कर आया, पैर थर्राये, और वे धरती पर गिर पड़े। भावी अमंगल की सूचना मिल गई। उस पंख-रहित पक्षी के सदृश जो साँप को अपनी तरफ आते देखकर ऊपर को उचकता और फिर गिर पड़ता है, राजा चम्पतराय फिर सँभल कर उठे और फिर गिर पड़े। सारन्धा ने उन्हें सम्भाल कर बैठाया, और रोकर बोलने की चेष्टा की। परन्तु मुँह से केवल इतना निकला "प्राणनाथ!" इसके आगे उसके मुँह से एक शब्द भी न निकल सका। आन पर मरने वाली सारन्धा इस समय साधारण

स्त्रियों की भाँति शक्तिहीन हो गई। लेकिन एक अंश तक यह निर्बलता स्त्री जाति की शोभा है।

चम्पतराय बोले—"सारन! देखो हमारा एक और वीर ज़मीन पर गिरा। शोक जिस आपत्ति से यावज्जीवन डरता रहा, उसने इस अन्तिम समय आ घेरा। मेरी आँखों के सामने शत्रु तुम्हारे कोमल शरीर में हाथ लगायेंगे, और मैं जगह से हिल भी न सकूँगा। हाय! मृत्यु, तू कब आयगी? यह कहते कहते उन्हें एक विचार आया। तलवार की तरफ हाथ बढ़ाया, मगर हाथों में दम न था। तब सारन्धा से बोले—"प्रिये! तुमने कितने ही अवसरों पर मेरी आन निभाई है।"

इतना सुनते ही सारन्धा के मुरझाये हुए मुख पर लाली दौड़ गई, आँसू सूख गये। इस आशा ने कि मैं अब भी पति के कुछ काम आ सकती हूँ, उसके हृदय में बल का संचार कर दिया। वह राजा की ओर विश्वासोत्पादक भाव से देख कर बोली—ईश्वर ने चाहा तो मरते दम तक निबाहूँगी।

रानी ने समझा, राजा मुझे प्राण दे देने का संकेत कर रहे हैं।

चम्पतराय—तुमने मेरी बात कभी नहीं टाली।

सारन्धा—मरते दम तक न टालूँगी।

राजा—यह मेरी अन्तिम याचना है। इसे अस्वीकार न करना।

सारन्धा ने तलवार को निकाल कर अपने वक्षःस्थल पर रख लिया और कहा—यह आपकी आज्ञा नहीं है; मेरी हार्दिक अभिलाषा है कि मरूँ तो यह मस्तक आपके पद-कमलों पर हो।

चम्पतराय—तुमने मेरा मतलब नहीं समझा। क्या तुम मुझे इसलिये शत्रुओं के हाथ में छोड़ जाओगी कि मैं बेड़ियाँ पहने हुए दिल्ली की गलियों में निन्दा का पात्र बनूँ?

रानी ने जिज्ञासा-दृष्टि से राजा को देखा। वह उनका मतलब न समझी।

राजा—मैं तुमसे एक बरदान माँगता हूँ।

रानी—सहर्ष माँगिये।

राजा—मेरी यह अन्तिम प्रार्थना है। जो कुछ कहूँगा, करोगी?

रानी—सिर के बल करूँगी।

राजा—देखो, तुमने वचन दिया है। इन्कार न करना।

रानी—(काँप कर) आपके कहने की देरी है।

राजा—अपनी तलवार मेरी छाती में चुभा दो।

रानी के हृदय पर वज्रपात-सा हो गया। बोली—"जीवन-नाथ"! इसके आगे वह और कुछ न बोल सकी—आँखों में नैराश्य छा गया।

राजा—मैं बेड़ियाँ पहनने के लिये जीवित रहना नहीं चाहता।

रानी—हाय मुझसे यह कैसे होगा?

पाँचवाँ और अन्तिम सिपाही धरती पर गिरा। राजा ने झुँझला कर कहा—इसी जीवट पर आन निभाने का गर्व था?

बादशाह के सिपाही राजा की तरफ़ लपके। राजा ने नैराश्य पूर्ण भाव से रानी की ओर देखा। रानी क्षणभर अनिश्चित-रूप से खड़ी रही। लेकिन संकट में हमारी निश्चयात्मक शक्ति बलवान् हो जाती है। निकट था कि सिपाही लोग राजा को पकड़ लें कि सारन्धा ने दामिनी की भाँति लपक कर अपनी तलवार राजा के हृदय में चुभा दी।

प्रेम की नाव प्रेम के सागर में डूब गई। राजा के हृदय से रुधिर की धारा निकल रही थी, पर चेहरे पर शान्ति छाई हुई थी।

कैसा करुण दृश्य है! वह स्त्री जो अपने पति पर प्राण देती थी, आज उसकी प्राणघातिका है। जिस हृदय से आलिङ्गित होकर उसने यौवन-सुख लूटा, जो हृदय उसकी अभिलाषाओं का केन्द्र था, जो हृदय उसके अभिमान का पोषक था, उसी हृदय को आज सारन्धा की तलवार छेद रही है। किस स्त्री की तलवार से ऐसा काम हुआ है?

आह! आत्माभिमान का कैसा विषादमय अन्त है। उदयपुर और मारवाड़ के इतिहास में भी आत्म-गौरव की ऐसी घटनायें नहीं मिलतीं।

बादशाही सिपाही सारन्धा का यह साहस और धैर्य्य देख कर दंग रह गये। सरदार ने आगे बढ़ कर कहा—रानी साहबा! खुदा गवाह है; हम सब आपके गुलाम हैं। आपका जो हुक्म हो उसे ब-सरो-चश्म बजा लायेंगे।

सारन्धा ने कहा—अगर हमारे पुत्रों में से कोई जीवित हो, तो ये दोनों लाशें उसे सौंप देना।

यह कह कर उसने वही तलवार अपने हृदय में चुभा ली। जब वह अचेत होकर धरती पर गिरी, तो उसका सर राजा चम्पतराय की छाती पर था।

पाठ ७

हमारे सामाजिक ह्रास के कुछ कारणों का विचार

मस्तिष्क का अमर्यादित व्यय

इस सम्बन्ध में सबसे पहले यह प्रश्न उठता है—क्या सचमुच हमारे समाज का ह्रास हो रहा है? यदि इस प्रश्न का

उत्तर "नहीं" हो, तो सामाजिक ह्रास के कारणों का विचार करना ही अप्रासङ्गिक है। अतएव अनुचित तथा व्यर्थ है। परन्तु इस लेख में लिखी गई बातों पर ध्यान देने से मालूम हो जायगा कि यथार्थ में, इस समय हमारे समाज के ह्रास के बहुत से चिह्न देख पड़ रहे हैं। और यदि, समय पर कुछ उपाय न किया जायगा तो ह्रास के ये चिह्न दृढ़ हो जायँगे। अतएव इस विषय पर विचार करना, अपने समाज का हित चाहने वाले प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य है।

समाज-शास्त्र के सिद्धान्तों के अनुसार किसी समाज की उन्नति, उत्क्रान्ति या विकास के लिये मनुष्य को तीन बातों की आवश्यकता होती है। (१) मनुष्य को स्वयं अपनी और अपने कुटुम्ब की रक्षा करने में समर्थ होना चाहिये; भोजन वस्त्र आदि जो पदार्थ जीवन के लिये अत्यन्त आवश्यक हैं, उन्हें प्राप्त करना चाहिये; रोग, व्याधि, आदि उपद्रव करने वाले प्राणियों और मानव-शत्रुओं का निवारण करना चाहिये; अपनी सुरक्षित दशा को स्थायी करने के लिये ज्ञान, अनुभव और कला-कुशलता की नित्य वृद्धि करनी चाहिये। (२) सुख की वृद्धि करने और दुःख को दूर करने से मनुष्य की आयु बढ़ती है। इसलिये सुख अथवा आयु की वृद्धि करना मनुष्य का दूसरा कर्त्तव्य है। (३) अपने कुटुम्ब और जाति की स्थिरता के लिये सन्तान-वृद्धि करना मनुष्य का तीसरा कर्त्तव्य है। सन्तान की संख्या अधिक हो, वह दीर्घायु हो और उसका शरीर सुदृढ़ तथा बलवान् हो। सारांश यह कि संरक्षण, सुख अथवा आयु की वृद्धि और स्थिरता, यही तीन मानव-समाज के मुख्य उद्देश्य हैं। जो समाज इन तीनों की सफलता के लिये यत्न करता है, उसी की उन्नति होती है। जो समाज अपनी चिर-कालिक स्थिरता पर विशेष ध्यान देता है, उसी का प्रत्येक पीढ़ी में विकास होता चला

जाता है। यदि समाज-शास्त्र का यह सिद्धान्त सत्य और मान्य-हो तो सोचना चाहिये कि हमारे समाज में जो चिह्न देख पड़ रहे हैं और जिनका वर्णन आगे चल कर किया जायगा, वे इस सिद्धान्त के अनुकूल हैं या प्रतिकूल? वर्त्तमान समय में हमारे समाज में कुछ ऐसी बातें देख पड़ रही हैं, जिनसे हमारे समाज की चिर-कालिक स्थिरता के बदले उसका ह्रास ही अधिक सूचित होता है।

कोई सौ वर्ष से अनेक नये-नये विचारों और कार्यों की ओर हमारी-प्रवृत्ति होने लगी है। सभ्यता की कुञ्जी हम लोगों के हाथ आजाने से हम पश्चिमी विद्या का अभ्यास करने लगे। पहले-पहल इस विद्या के तेज से हमारी आँखों में चकाचौंध आगई। पश्चिमी सभ्यता की आश्चर्यजनक बातों से हमारा मन ऐसा मोहित होगया कि हममें से अनेक लोग अपने पूर्वजों के आचार, विचार और धर्म को निरर्थक मानने लगे। अपनी प्राचीन सभ्यता हमें तुच्छ मालूम होने लगी और पश्चिमी देशों की प्रायः सभी बातें प्रशंसनीय और अनुकरणीय मालूम होने लगीं। केवल तर्क और युक्तिवाद का आश्रय करके उनके पहनाव, खान-पान, रहन-सहन आदि की नक़ल करते-करते उनका धर्म भी हम लोगों को प्रिय होने लगा। कुछ लोगों ने तो अपने धर्म का त्याग भी कर दिया। कुछ ने निराकार ईश्वर की पूजा के नूतन धर्म-पन्थ स्थापित कर लिये।

यह अन्धी नक़ल—यह अन्धपरम्परा—और-और बातों में भी प्रकट होने लगी। शहरों में रहने वालों की विद्वता, योग्यता, आदर, सुख-चैन और प्रभाव को देख कर देहातों और क़सबों में रहने वालों का जी ललचाने लगा। पश्चिमी विद्या-विभूषित शहर-निवासियों के व्यक्ति-स्वातन्त्र्य और आधिभौतिक सुखों की ओर देख कर बेचारे देहातियों की लालसा इतनी बढ़ गई कि वे

भी अपने प्राचीन उद्योग-धंधों को छोड़कर शहरों में आकर पश्चिमी विद्या और सभ्यता सीखने में अपना जीवन व्यतीत करने लगे। उच्चजाति के लोग तो पहले ही से इस विद्यामृत का पान करने में लग गये थे, अब अन्य जातियों ने भी सोचा कि हम इस सौभाग्य से क्यों वञ्चित रहें। बस, फिर क्या था, किसानों ने अपने हल-वक्खर एक ओर रख दिये और लगे ए, बी, सी, डी पढ़ने। सेमारों ने अपनी कन्नी छोड़ दी, बढ़इयों ने अपना बसूला छोड़ दिया, लुहारों ने घन और निहाई छोड़ दी, नाइयों ने उस्तरा छोड़ दिया, बनियों ने अपना तराजू छोड़ दिया। सब लोग पश्चिमी सभ्यता का स्वर्गीय सुख पाने के लिये लालायित होगये। यह दशा देख कर ब्राह्मण आदि श्रेष्ठ जातियों के लोग, जो पहले ही से विद्याध्ययन में लगे थे, जी में जलने लगे कि अब हमारी बपौती छिन जायगी। वे इन निकृष्ट जातियों से द्वेष करने लगे। खेद है कि हम लोग अपने उन प्राचीन व्यवसायों को छोड़ रहे हैं, जिनमें शारीरिक परिश्रम की आवश्यकता थी, और ऐसे व्यवसायों में लग रहे हैं, जिनमें केवल बुद्धि या मस्तिष्क का परिश्रम अधिक है। वर्तमान दशा को देख कर यदि कहा जाय कि पश्चिमी विद्या और सभ्यता में पारङ्गत होना ही हमारे जीवन का प्रधान उद्देश्य हो गया है तो कुछ भी अतिशयोक्ति न होगी। प्रायः सभी माता-पिता अपने बच्चों से कहने लगे हैं—"यदि अंग्रेजी न सीखोगे तो क्या भीख माँगोगे!" सारांश यह कि अपने प्राचीन धर्म-तत्त्वों को तुच्छ समझना, केवल व्यक्ति-स्वातन्त्र्य और भौतिक सुखों की लालसा करना, शारीरिक श्रम को हीनता की दृष्टि से देखना, देहात का त्याग करके शहरों में रहना और अपरिमित विद्या-व्यासङ्ग में समय बिताना ही, हमारी समझ में, समाज और राष्ट्र की उन्नति के लक्षण माने जा रहे हैं। ऐसी अवस्था में क्या हमको इन बातों पर विचार न करना चाहिये कि

विद्या-व्यासङ्ग की अधिकता और मस्तिष्क के अतिव्यय से हमारे शिक्षित समाज पर क्या परिणाम हुए हैं, होरहे हैं और होंगे ? देहातों और क़सबों की बस्ती छोड़ कर, शारीरिक श्रम के व्यवसायों को छोड़ कर, शहरों में निवास करने से हमारे समाज की क्या हानि होरही है ? केवल तर्क और युक्तिवाद का आश्रय लेकर अपनी प्राचीन सभ्यता को तुच्छ मानने से—धार्मिक श्रद्धा के अभाव से—व्यक्ति स्वातन्त्र्य और आधिभौतिक सुखोपभोगों की प्रवृत्ति के बढ़ जाने से—हमारे देश की कैसी दुर्दशा हो रही है ? अब हमको अपनी अन्धपरम्परा का त्याग करके विवेक शक्ति से काम लेना चाहिये। विवेक की दृष्टि से देखने पर मालूम होगा कि जिन बातों को अब तक हम अपने राष्ट्र की उन्नति के लिये हितदायक और आवश्यक मानते चले आये हैं, वही यथार्थ में हमारे सामाजिक ह्रास के कारण हैं। इस लेख में विचार किया जायगा कि विद्या-व्यासङ्ग की अधिकता—मस्तिष्क के अमर्यादित व्यय से—हमारे समाज का ह्रास कैसे होरहा है ?

ऊपर जिस अन्धपरम्परा का उल्लेख किया गया है उसकी सत्यता के विषय में हमारे शिक्षित भाई कुछ सन्देह करेंगे। परन्तु अन्धपरम्परा से हमारा यह मतलब नहीं है कि यह नूतन विद्या और सभ्यता निरुपयोगी है। हमारा मतलब सिर्फ़ यही है कि उसका रहस्य जानने की योग्यता अब तक हम लोगों ने नहीं प्राप्त की। हम लोग पश्चिमी ज्ञान की अत्यल्प प्राप्ति से दुर्विदग्ध होगये हैं। हम सिर्फ यही देखते हैं कि हमारी विद्वता हमारे नौकरों से, अथवा हमारे बूढ़े दादा या नाना से, कितनी अधिक है। बस, इसी में हम फूले नहीं समाते। हमारा सारा ज्ञान केवल शाब्दिक है—तात्त्विक ज्ञान हमारे पास कुछ भी नहीं। पश्चिमी विद्या और सभ्यता की कुञ्जी मिल जाने पर भी, सोचिये तो सही हम लोग पश्चिमी देशों के तत्ववेत्ताओं के सिद्धान्तों का आकलन

करने में कितने सफल हुए हैं ? पश्चिमी सभ्यता के रहस्यों को जान कर कितने हिन्दुस्तानियों ने अपने देश, समाज, धर्म, नीति, भाषा और व्यापार की उन्नति का प्रयत्न किया है ? एक बड़े विदेशी अधिकारी ने हमारे शिक्षित समुदाय को फालतू ग्रैजुएट (Superficial Graduates) कहा है ? यद्यपि यह वचन कटु है, तथापि क्या यह सत्य नहीं ? सच तो यह है कि हमारा सभी काम अन्धपरम्परा से हो रहा है—हम विदेशियों की सभ्यता का बाहरी अनुकरण करने ही से सन्तुष्ट हैं; उनकी सभ्यता के रहस्य का ज्ञान प्राप्त करने और उनकी सच्ची बराबरी करने में कई सदियाँ पिछड़े हुए हैं।

अच्छा ! अब यह जानने के पहिले कि विद्याभ्यास के अतिरेक से—मस्तिष्क के अपरिमित व्यय से—हमारे समाज का ह्रास कैसे होरहा है, यह जान लेना चाहिये कि प्राचीन समय में हमारे समाज की दशा कैसी थी ? पचास-साठ वर्ष पहले हमारे पूर्वजों को, छोटी उम्र में, विद्याभ्यास और मानसिक श्रम करने में इतना खून न सुखाना पड़ता था। उस समय वे लोग अपने घर में या समीप की किसी पाठशाला में लिखना-पढ़ना, हिसाब-किताब आदि सीख कर अपना जीवन-निर्वाह सुख से कर लेते थे। ब्राह्मण वर्ण के कुछ लोग संस्कृत-भाषा और शास्त्रों का अध्ययन करने में अधिक समय बिताते थे। पर उनके आचार-विचार, रहन-सहन, खान-पान आदि के कारण उनकी शारीरिक शक्ति का ह्रास न होता था। हमारे पूर्वजों को अपने जीवन निर्वाह के लिये इतना मानसिक परिश्रम और मस्तिष्क-शक्ति का व्यय न करना पड़ता था, जितना वर्त्तमान समय में सुशिक्षित तथा विद्वान् कहलाने वाले वकील, बैरिस्टर, डाक्टर, प्रोफेसर, इञ्जीनियर आदि लोगों को करना पड़ता है। उन लोगों का विद्याभ्यास बीस वर्ष की अवस्था तक, पितृत्व-दशा में आने के पहले ही

पूरा होजाया करता था। व्यावहारिक ज्ञान के लिये उन्हें किसी पाठशाला में न जाना पड़ता था। प्रत्यक्ष अनुभव से वे लोग सब व्यवहारों में दक्ष होजाया करते थे। तात्पर्य यह कि उनको अपनी आयु की प्रथम अवस्था में बहुत मानसिक परिश्रम न करना पड़ता था। इसलिये व्यावहारिक कामों में ज्यों-ज्यों उन का अनुभव बढ़ता जाता था, त्यों-त्यों उनकी बुद्धि अधिक तीव्र और परिपक्व होती जाती थी। वे लोग अपनी मध्यम अवस्था में कठिन से कठिन काम करने में, अपना तेज प्रकट कर सकते थे। वृद्धावस्था में भी वे स्वस्थ तथा उत्साही बने रहते थे। उनका उत्साह, आवेश, निश्चय और शारीरिक श्रम करने की शक्ति अन्त तक बनी रहती थी। ऐसे वृद्ध पुरुष अब भी कहीं-कहीं देख पड़ते हैं।

यह बात छिपी नहीं है कि वर्त्तमान समय में इस देश के युवकों के सिर पर विद्याभ्यास का कितना बड़ा और कितना भारी बोझ लाद दिया गया है। सोचना चाहिये कि जिनके बाप-दादों ने पिछली कई पीढ़ियों तक विद्याभ्यास में विशेष परिश्रम नहीं किया, उनके बालकों और नव-युवकों को, स्पर्धा और ईर्ष्या के वर्तमान काल में, पश्चिमी विद्या और सभ्यता का सामना करने में कैसी कठिन मेहनत करनी पड़ती है। पहले जितनी महनत की जाती थी, उससे अब कई गुना अधिक करनी पड़ती है। प्राचीन समय के शिक्षित समाज में सौ में पाँच से अधिक लोग विद्या-व्यासङ्ग में अपना जीवन नहीं बिताते थे। परन्तु अब तो हमारे शिक्षित समाज में सौ में पचानवे को अपनी बाल्यावस्था और युवावस्था का सारा समय केवल विद्याभ्यास ही में व्यतीत करना पड़ता है। पहले, बीस वर्ष की अवस्था के पहले ही विद्याध्ययन पूरा हो जाता था। अब बीस-बाईस वर्ष की कौन कहे, [illegible] के पास हो जाने पर भी, हमारे नव-

युवकों की विद्यार्थी दशा पूरी नहीं होती! जिस विद्या और सभ्यता के सीखने में पश्चिमी देशों के निवासियों ने सैकड़ों वर्ष लगा दिये हैं, उसको एक दम प्राप्त कर लेने का भार गत दो तीन पीढ़ियों पर आ पड़ा। इस अभ्यास की अधिकता का परिणाम क्या होगा? उत्तर स्पष्ट है—मस्तिष्क का संकोच, बुद्धि की क्षीणता, शारीरिक शक्ति की हानि और सन्तान की निर्बलता—अर्थात् सामाजिक ह्रास।

सामाजिक ह्रास के कुछ चिह्न सर्वत्र दिखाई दे रहे हैं। संदेह करने की आवश्यकता नहीं कि इतने थोड़े समय में ह्रास के लक्षण कैसे प्रकट हो गये। शरीर-शास्त्र का सिद्धान्त है कि पिता के विकृत शरीर और मस्तिष्क के बुरे परिणाम एक ही पीढ़ी में सन्तान में प्रकट हो जाते हैं। यदि सन्तान भी अपने पिता ही के मार्ग का अवलम्बन करे तो वे परिणाम दूसरी पीढ़ी में अधिक स्पष्ट और दृढ़ हो जाते हैं! सामाजिक ह्रास का यह क्रम हमारे शिक्षित कुटुम्बों में बद्धमूल हो रहा है। यदि यह क्रम इसी तरह जारी रहा तो भविष्य में शिक्षित समाज का नाश हुए बिना न रहेगा। वर्तमान समय के विद्यार्थियों और शिक्षित विद्वानों की अकाल-मृत्यु, उनकी शारीरिक दुर्बलता, उनकी सन्तति की अशक्तता, चित्त की उदासीनता, सदैव किसी न किसी रोग या व्याधि से पीड़ित रहना इत्यादि, ऐसे अनेक चिह्न हैं जिनसे निस्सन्देह ही हमारे शिक्षित समाज का ह्रास सूचित होता है। हिन्दुस्तान के शिक्षित कुटुम्बों में, विशेषतः उन कुटुम्बों में जिनमें कुछ पीढ़ियों से विद्याध्ययन और मानसिक परिश्रम के सिवा और कुछ काम नहीं किया जाता, ऐसे बहुत कम होंगे, जिनको अपने तरुण पुरुषों की अकालिक जराजीर्णता, रुग्णावस्था या मृत्यु पर शोक न करना पड़ता हो! हमने कई युवकों को देखा है जिन्होंने पचीस-तीस वर्ष तक विद्याध्ययन किया; दस-पाँच

वर्ष तक गृहस्थी का सुख भोगा; फिर मध्यम अवस्था ही में दो चार छोटे-छोटे बच्चों को छोड़ कर, परलोक का रास्ता लिया। ऐसों के वृद्ध माता-पिताओं की असहाय और दुःखद स्थिति का वर्णन करना कठिन है। हमारी शारीरिक शक्ति के ह्रास के चिह्न जगह-जगह देख पड़ रहे हैं। हम लोगों को अपनी यथार्थ दशा न भूलनी चाहिये। इसमें सन्देह नहीं कि पश्चिमी विद्या का अभ्यास करके कुछ लोग प्रसिद्ध लेखक, ग्रन्थकार, वक्ता, अध्यापक, वकील, बैरिस्टर, डाक्टर, कौंसिल के मेम्बर और सिविलियन हो गये हैं, परन्तु यह लोग उन तारों के समान हैं, जो आकाश में क्षण भर चमक उठते हैं और अपनी चमक दमक से सारे जगत् को प्रदीप्त करके थोड़ी ही देर में लुप्त हो जाते हैं। खोज करना चाहिये कि इन सुप्रसिद्ध अल्पायु पुरुषों के कुटुम्बों और सन्तानों की दशा कैसी है? जब तक शारीरिक शक्ति का ह्रास होता रहेगा, तब तक हम किसी राष्ट्रीय महत्त्व के कार्य का सम्पादन करने में समर्थ न हो सकेंगे। 'ह्वीलर' नामक इतिहासकार ने हमारे विषय में जो लिखा है, उसका सारांश यह है—"शिक्षा के प्रभाव से हम प्रौढ़ और गम्भीर मनुष्यों के समान बातें करना सीख लेंगे, परन्तु हमारे सब कार्य असहाय बच्चों ही के समान होंगे।"

शारीरिक शक्ति के ह्रास के साथ-साथ बुद्धि के भी ह्रास के चिह्न दिखाई देने लगे हैं। यह अनुभव से सिद्ध है कि आजकल के लिखे-पढ़े विद्वानों का बुद्धि-सामर्थ्य और मानसिक उत्साह उनकी अन्तिम परीक्षा के बाद ही, समाप्त हो जाता है। वे लोग न तो अपनी बुद्धि की कुछ अधिक उन्नति कर सकते हैं और न कोई नूतन कठिन कार्य्य करने में उत्साह, निश्चय, तथा धैर्य ही दिखा सकते हैं। पूर्व-सम्पादित विद्या और ज्ञान ही के आधार पर उनका जीवन-निर्वाह और मानसिक व्यापार अवलम्बित

रहता है। वर्ष-प्रतिवर्ष उनकी यह शक्ति घटती ही चली जाती है। बुद्धि-सामर्थ्य और मानसिक उत्साह तथा धैर्य के इस ह्रास का कारण यही है कि वर्तमान समय में हमारे युवकों को, अपनी आयु की प्रथम अवस्था में ही, ज्ञानोपार्जन करने और विदेशी विद्या तथा सभ्यता से टक्कर मारने की उतावली होती है। अतएव उन्हें अपरिमित मानसिक श्रम करना पड़ता है। आधुनिक विद्वानों की बुद्धि की शिथिलता देख कर निराशा का सागर उमड़ आता है। हमारे शिक्षित भाइयों में से प्रायः अधिकांश नौकर-पेशा हैं। कुछ ही लोग वकीली, बैरिस्टरी, डाक्टरी आदि स्वतन्त्र व्यवसाय कर रहे हैं। इन लोगों में से ऐसे कितने निकलेंगे जिन्होंने अपनी बुद्धि-सामर्थ्य और मानसिक बल से, अपने कार्य का उत्तमतया सम्पादन करके, अपना नाम चिरस्थायी किया हो ? खेद है, हमारे शिक्षित भाइयों की बुद्धि-सम्बन्धिनी महत्त्वाकाङ्क्षा अत्यन्त मर्यादित होगई है। डर है, कुछ दिनों बाद, हमारे शिक्षित समाज में सुप्रसिद्ध और नामी पुरुषों की उत्पत्ति ही न बन्द हो जाय।

शारीरिक शक्ति की वृद्धि के लिये शास्त्रों में आयु की मर्यादा निश्चित है। कहते हैं कि पच्चीस वर्ष की अवस्था तक ('वाग्भट' के मत के अनुसार बीस वर्ष तक) शरीर की वृद्धि पूरी हो जाती है। उसके बाद शरीर की वृद्धि नहीं होती। परन्तु यह नियम मन और बुद्धि की उन्नति के विषय में नहीं चरितार्थ हो सकता। प्राकृतिक तत्त्वज्ञों की राय है कि यदि उचित परिश्रम से मानसिक नैरोग्य की रक्षा की जाय तो शरीरान्त तक बुद्धि की उन्नति और वृद्धि होती रहती है। अर्थात बुद्धि का अकालिक ह्रास स्वाभाविक कारणों से नहीं होता, बुद्धि की अकालिक क्षीणता या मन्दता कृत्रिम (अतएव परिहार्य) कारणों से हुआ करती है। परन्तु हम लोग इन कृत्रिम कारणों

को दूर करने के बदले उनका अधिकाधिक अवलम्ब करने ही में अपनी उन्नति मान रहे हैं। देखिये, इस समय उपजीविका के साधनों की प्राप्ति के लिये, हमारे शिक्षित समाज में, प्रत्येक व्यक्ति को कैसा भयानक मानसिक श्रम और बुद्धि का व्यय करना पड़ता है। इस बात का कोई विचार नहीं करता कि शरीर की पूरी वृद्धि होने के पहिले, अथवा पितृत्व-अवस्था आने के पहले हमको कितना मानसिक श्रम करना चाहिये। क्या हमारे युवक, अपनी शारीरिक शक्ति और मानसिक परिश्रम के उचित परिणामों की ओर ध्यान देकर, कभी विद्याभ्यास करते हैं ? कभी नहीं। उनकी इच्छा यही रहती है, और प्रयत्न भी यही किया जाता है कि बीसवें वर्ष (या इससे भी पहले) हम बी० ए० हो जायँ, एम० ए० हो जायँ तो और भी अच्छा; एल-एल० बी० हो जायँ तो उससे भी अच्छा। माता-पिता और इष्ट-मित्रों की यही महत्त्वाकाङ्क्षा रहती है कि हम लोग अल्प-समय में इतना अधिक मानसिक श्रम करें कि एक दम पश्चिमी सभ्यता और विद्वत्ता की चोटी पर जा बैठें। इस प्रयत्न में हमारा शरीर निर्बल हो जाय तो और हमारी बुद्धि क्षीण हो जाय तो भी कुछ परवा नहीं। परन्तु स्मरण रहे, अल्प समय में अपरिमित विद्याभ्यास करने से हमारे शरीर और हमारी बुद्धि का ही ह्रास न होगा, किन्तु हमारी सन्तति की कर्तृत्व-शक्ति का भी नाश हो जायगा।

जिनको सुख, समाधान और जीवन-निर्वाह के साधनों की अनुकूलता है; जिनको विद्याध्ययन करने में अधिक कष्ट या उतावली नहीं करनी पड़ती, और जिनकी बुद्धि बहुत तीव्र है, उन लोगों पर भी विशेष ज्ञान-प्राप्ति तथा विचार-प्रकर्ष का अनिष्ट परिणाम हुए बिना नहीं रहता। इस दशा में जिन लोगों को ऐसी अनुकूलता नहीं, उन पर (अर्थात् हमारे वर्तमान शिक्षित

समाज पर) कितना अधिक बुरा परिणाम होगा, इसकी कल्पना तक नहीं की जा सकती। जगत् के इतिहास की ओर देखने से मालूम होता है कि जो लोग किसी विशेष ज्ञान में अत्यन्त प्रकाण्ड और प्रसिद्ध हो गये हैं, उनमें से अधिकांश सन्तानहीन थे, कुछ अविवाहित भी थे। हमारे आधुनिक शिक्षित समाज का, गत पचास-साठ वर्ष का इतिहास देखा जाय तो यही विदित होगा कि बहुतेरे सुप्रसिद्ध विद्वान् सन्तान-हीन हैं; और यदि किसी के सन्तान है भी तो वह अपने कुल की शोभा बढ़ाने के बदले उसकी विडम्बना ही का कारण है। तात्पर्य यह कि बुद्धि का प्रकर्ष, मस्तिष्क का अमर्यादित व्यय—सन्तान के लिये हानिकारक है।

कुछ लोग कहा करते हैं कि पिता की विद्वत्ता जितनी अधिक होगी उतनी ही अथवा उससे भी अधिक विद्वत्ता उसकी सन्तान की होगी। परन्तु यह विश्वास उत्क्रान्ति-तत्त्व और अनुभव के विरुद्ध है। शिक्षित पिता और उसके पुत्र की बुद्धि में सदा ही व्यस्त परिमाण ही (Inverse ratio) देख पड़ता है। आज-कल के मुन्सिफ़, तहसीलदार, डिप्टी कलेक्टर, वकील, डाक्टर, शिक्षक, प्रोफ़ेसर आदि शिक्षित सज्जनों से पूछिये—"महाशय, जब आप अपने लड़के की उम्र के थे, उस समय आपकी जैसी बुद्धि थी, क्या वैसी ही बुद्धि इस समय आपके लड़के की भी है? अथवा जिस उम्र में, जितने परिश्रम से, जितनी विद्वत्ता आपने प्राप्त कर ली थी, क्या उतनी ही उम्र में उतने ही परिश्रम से, उतनी ही विद्वत्ता आपके लड़के ने भी प्राप्त की है या प्राप्त करने के लक्षण उसमें देख पड़ते हैं? सब बातों का विचार करके कहिये कि आपकी सन्तान की बुद्धि आप से कम है, अथवा अधिक है, अथवा बराबर?" हमारा विश्वास है, इन प्रश्नों का उत्तर यही मिलेगा—आजकल के लड़कों की बुद्धि

बहुत मन्द देख पड़ती है; उन्हें विद्याध्ययन में अधिक मेहनत करनी पड़ती है।" पाठशालाओं के शिक्षक और कालेजों के अध्यापक भी कहते हैं—"विद्वान् और सुशिक्षित पुरुषों के लड़के किसी काम के नहीं रहते। उनमें पिता का कुछ भी तेज नहीं देख पड़ता।" जब इस शोचनीय दशा पर चर्चा होने लगती है, तब कोई गृह-शिक्षा को दोष देता है, कोई माता-पिता के प्यार को दोष देता है, कोई लड़कों के खिलाड़ी और आलसीपन को दोष देता है, कोई शिक्षकों और अध्यापकों को दोष देता है, और कोई शिक्षा-पद्धति ही को सब दोषों की जड़ समझता है। यदि इन बातों में कुछ न्यूनता देख पड़ती है तो चारों ओर से पुकार होने लगती है कि बस, यही हमारी अवनति का सच्चा कारण है। जब तक इसमें सुधार न होगा, तब तक हमारी उन्नति नहीं हो सकती; परन्तु स्मरण रहे कि ये बातें हमारी अवनति का—हमारे सामाजिक ह्रास का—हमारी सन्तान की बुद्धि की क्षीणता और शारीरिक दुर्बलता का—सच्चा कारण नहीं। सच्चा कारण यह है कि हम लोग अल्प समय में विद्याभ्यास करने में, अमर्यादित मानसिक श्रम और मस्तिष्क का व्यय करके स्वयं ही अपने शरीर और अपनी बुद्धि को निर्बल कर डालते हैं। इस प्रकार हम अपनी सन्तान की भी कर्तृत्व-शक्ति का नाश कर देते हैं।

वर्तमान समय में जो लोग अपने को शिक्षित और विद्वान् समझते हैं, उनको सोचना चाहिये कि हमारे बाप-दादे कितने लिखे पढ़े और कितने विद्वान् थे। उन लोगों ने अपने जीवन में जो बड़े-बड़े काम किये, उनमें उन्हें मस्तिष्क-शक्ति का अधिक व्यय नहीं करना पड़ा था। इस समय पाठशालाओं और कालेजों में जो लड़के सब से अधिक बुद्धिमान् गिने जाते हैं, वे विशेष विद्वान और शिक्षित माता-पिताओं के पुत्र नहीं। जिन लोगों ने विद्या-व्यासङ्ग में बहुत कम मेहनत की है, उन्हीं की ये सन्तति हैं।

उनमें से अधिकांश शहर-निवासियों के नहीं, किन्तु देहात में रहने वालों के लड़के हैं। 'एमर्सन' नामक ग्रन्थकार ने खेती के विषय पर कुछ निबन्ध लिखे हैं। उनमें उसने इस बात की भी चर्चा की है कि विद्या-व्यासङ्ग के अतिरेक से कितनी हानि होती है। वह लिखता है—

"Nations burn with internal fire of thought and affection which wastes while it works. We shall find finer combustion and finer fuel. Intellect is a fire; rash and pitiless, it melts the wonderful bonehouse which is called man. Genius even, as it is the greatest good, is the greatest harm."

अर्थात्—विचारों और महत्त्वाकाङ्क्षाओं की आन्तरिक अग्नि से देश जलता रहता है। मालूम होता है कि यह अग्नि एक ओर बहुत अच्छा काम कर रही है, परन्तु दूसरी ओर उससे बहुत हानि भी हो जाती है। बुद्धि अग्नि के समान है। उसमें न दया है, न दूर-दृष्टि। वह हड्डियों की इस विलक्षण इमारत को, जिसे हम मनुष्य कहते हैं, भस्म कर देती है। विलक्षण बुद्धि का होना अत्यन्त हितदायक है, परन्तु उससे बहुत कुछ अनहित भी होता है।

सारांश यह है कि थोड़े समय में अधिक लाभ की आशा से पश्चिमी सभ्यता पर मोहित होजाना और अपने प्राचीन तथा स्वाभाविक स्वरूप का त्याग कर देना मानों अपने समाज को नष्ट कर देना है। यथार्थ में पश्चिमी सुधार और सभ्यता का स्वरूप बड़ा भयानक है। यह बात इतिहास-प्रसिद्ध है कि जहाँ-जहाँ यूरप वालों ने बस्ती की है, वहाँ-वहाँ के मूल निवासी नष्ट हो गये हैं। इसमें सन्देह नहीं कि इस सुधार और सभ्यता के प्रचार में उन लोगों का हेतु शुद्ध और प्रशंसनीय होता है; परन्तु परिणाम की

ओर देख कर उन लोगों को भी आश्चर्य हुए बिना नहीं रहता। देखिये 'किड' नामक ग्रन्थकार अपने "सामाजिक विकास" (Social Evolution) नाम के ग्रन्थ में क्या लिखता है—

"The Anglo-Saxon looks forward not without reason, to the day when wars will cease; but without war, he is involuntarily exterminating the Maori, the Australian, and the Red-Indian. He may beat his swords into ploughshares, but in his hands the implements of industry prove even more effective and deadly weapons than the swords."

इसका भावार्थ यह है—अँग्लो-सेक्सन जाति के लोगों की सबसे बड़ी महत्त्वाकाङ्क्षा यही है कि दुनियाँ में लड़ाइयाँ बन्द हो जायँ। परन्तु युद्ध किये बिना ही वे लोग मायोरी, आस्ट्रेलियन और रेड-इण्डियन जातियों को नष्ट कर रहे हैं। यद्यपि उन लोगों ने हबशियों को स्वतन्त्र कर दिया है, तथापि यह जाति अब तक बहिष्कृत मानी जाती है। वे लोग भले ही अपनी तलवारों को तोड़ कर उनके हलफ़ाल बनवा लें, परन्तु उनके हाथ में कृषि और उद्योग-धन्धों के निरुपद्रवी औज़ार भी विष से भरी तलवारों से अधिक भयानक हो जाते हैं।

तात्पर्य यह कि अपने को नष्ट हो जाने से बचाने के लिये हमें पश्चिमी सुधार और सभ्यता का अनुकरण बहुत विचार-पूर्वक करना चाहिये। हमको इस बात पर बहुत ध्यान देना चाहिये कि अपने समाज का ह्रास किये बिना हम लोग पश्चिमी सभ्यता की अच्छी-अच्छी बातों को किस तरह स्वीकार कर सकते हैं। यदि मस्तिष्क के अपरिमित व्यय से यथार्थ में हमारे समाज का ह्रास हो रहा है तो उसे टालने का उपाय अभी से सोचना चाहिये।

—माधवराय सप्रे

पाठ ८

पृथ्वीराज का अभ्युदय (१)

दिल्ली में वीरसेन तँवर का पुत्र राजा अनङ्गपाल राज करता था। उसने पुत्र के वास्ते बहुत कुछ जप, तप, दान, पुण्य, तीर्थ, व्रत किये, परन्तु उसकी कामना पूर्ण न हुई। राजा और रानी को रात-दिन यही चिन्ता रहती थी कि परमात्मा ने सर्व सुख दिया, परन्तु हतभाग्यता के कारण पुत्र-प्रसव से हमारा कुल वृद्धि को प्राप्त न हुआ। संसार में बिना पुत्र के जीवन व्यर्थ है, ईश्वरेच्छा से बल नहीं, भगवान् व्यासदेव ने कीली को ढीली करते समय जो वचन कहे थे वे अवश्य सत्य होंगे—तँवर-कुल का नाश होवेगा। इसी चिन्ता में राजा की आँख लग गई। अर्द्ध-रात्रि के समय स्वप्न में क्या देखता है कि तँवर रक्त पुष्प की माला पहिने दक्षिण दिशा को जाते हैं। ऐसा भयंकर स्वप्न देखकर राजा जागा परन्तु रात्रि विशेष जान कर सो रहा। जब एक पहर रात्रि शेष रही तो फिर क्या देखता है कि तृण के समान उड़ता हुआ आप तीर्थ स्थान में जा गिरा। गिरने के साथ ही राजा की आँख खुली। तथा बुरे फल से बचने के लिये हाथ पाँव पखार नृसिंह का स्मरण करता हुआ फिर सोगया। दो घड़ी रात्रि रहे फिर क्या देखता है कि कालिका के तट पर रमणीय स्थान में एक विशाल शरीर वाला दिव्य सिंह क्रीड़ा कर रहा है, इतने में एक और सिंह दूसरे तट से उस सिंह के पास आकर बैठा और उसी सिंह ने राजा को जगा दिया। भोर हुआ, सूर्योदय के पूर्व प्रसरित होने वाली अरुणता ने अपने रक्ताम्बर से पृथ्वी को पाट दिया, पक्षीगण बोलने लगे। शयन-गृह के पास दूसरे भवन में से बीणा के मधुर स्वर राजा के कान में पड़े। राजा उठ कर नित्य कर्म करने के उपरान्त राज-सभा में जा सिंहासन पर

विराजा और पुरोहित से रात में देखे हुए स्वप्न कह उनका फल पूछा। स्वप्नों को सुनते ही तुरन्त पुरोहित को व्यासदेव की बात का स्मरण हुआ और निवेदन किया कि महाराज तँवर के राज्य का अन्त होने वाला है। वह दूसरा सिंह जो आपने देखा, चहुआण है; अब दिल्ली में चहुआणों का राज्य होगा। राजा ने पुरोहित के वचन सुनकर अपने सामन्त व मन्त्रिगणों से कहा कि "संसार समुद्र में पड़ा हुआ मनुष्य बेबस कर्म-रूपी तरङ्गों के प्रभाव से इधर-उधर उछलता है। इस सांसारिक यात्रा से पार हो नियत स्थान पर पहुँचने के लिये धर्म ही एक मुख्य साधन है, विषय-वासना में पड़े हुए प्राणी से अन्तकाल में पश्चाताप के अतिरिक्त कुछ नहीं बन पड़ता है। मैं चाहता हूँ कि यह राज अपने दौहित्र पृथ्वीराज को देकर आप तीर्थस्थान में जा तपस्या कर अपना जन्म सार्थक करूँ, इसमें तुम्हारी क्या सम्मति है ?" मन्त्रियों ने निवेदन किया कि महाराज ! आप जैसे नीतिज्ञ दयालु और प्रजापालक नरपतियों के लिये तो स्वर्ग का द्वार सदा ही खुला हुआ है। धर्मशास्त्र में लिखा हुआ है कि अपने मोक्ष के हेतु राजा को नीति-पूर्वक शासन के अतिरिक्त अन्य साधन की आवश्यकता नहीं। फिर आप ऐसा विचार मन में क्यों लाते हैं ? क्या आप अपनी प्रीति में डूबी हुई अपनी प्रजा और स्वामि-भक्त सेवकों को अनाथ करना चाहते हैं ? मन्त्रियों के ऐसे वचनों से राजा को सन्तोष न हुआ और अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण करना ठान एक दूत बुलाकर पत्र दे अजमेर की ओर विदा किया। दूत ने अजमेर पहुँच कर पत्र पृथ्वीराज के हाथ में दिया और दिल्ली का सर्व वृत्तान्त कह कर चुप हुआ। पत्र खोल कर पृथ्वीराज ने पढ़ा तो उसमें यह लिखा था—

"स्वस्तिश्री अजमेर द्रोण दुर्ग राजाधिपो राजनं।
पुत्री पुत्र पवित्र [illegible] ॥

मा बृद्धायसु बृद्ध तह सरणं बद्री निमित्ते तनं।
आभूमीय हयं गयं च सकलं संकल्पिता तर्पयं॥"

महाराज सोमेश्वर को यह समाचार कहे गये और महाराणी को भी ख़बर दी। माता पिता दोनों ने प्रसन्न होकर पृथ्वीराज को आज्ञा दी कि तुम जाकर अपने नाना का मनोरथ पूर्ण करो। माता पिता की आज्ञा पाते ही पृथ्वीराज अपने सुभटों सहित दिल्ली की ओर पयान करने को प्रस्तुत हुआ। जब प्रजा-जनों ने सुना कि कुँवर पृथ्वीराज दिल्ली का अधिपति बनने को आज अजमेर से विदा होना चाहता है तो लोग लुगाइयों के ठट्ट के ठट्ट उसको धन्यवाद देने के निमित्त राज-मार्ग पर आ गये। अपनी प्रिय प्रजा के अनेक आनन्द मङ्गलमय शब्दों से पित्थल मन में प्रफुल्लित होता, सबका यथायोग्य सन्मान करता, बन्दी जनों से बिरदावली सुनता, सुभटों से घिरा हुआ वह नगर से बाहर हुआ। शकुन भले हुए—हिरणों की कतार बाईं ओर निकली, सन्मुख फण फैलाये हुए एक बड़ा नाग मिला, तीतर बाँया बोलने लगा, इन सर्व शुभ शकुनों को देख सबों को बड़ा हर्ष हुआ। चलते-चलते कितनेक दिनों में दिल्ली के ढिंग जा पहुँचे। इतने आगे बढ़कर अनङ्गपाल को ख़बर दी कि पृथ्वीराज आ पहुँचे हैं। उसने अपने सामन्त और मन्त्रियों को आज्ञा दी कि मेरी चतुरङ्गिनी चमू को लेकर जाओ, आगौनी कर पृथ्वीराज को सादर मेरे पास ले आओ। उसके आने के चौहट्टे शृङ्गारे जावें। राजा की आज्ञा पा सेना सहित सामन्त-गण पेशवाई को पहुँचे। सारे नगर में समाचार फैल गये कि भावी दिल्लीपति कुँवर पृथ्वीराज आते हैं। राज उनको देकर राजा अनङ्गपाल तीर्थ-स्थान में तपस्या करने जावेंगे। नर-नारी और बालक-वृद्धों के झुण्ड के झुण्ड उत्तम वस्त्रालङ्कार धारण कर मार्ग पर व गोख

झरोखों में आ जमे। इतनी भीड़ इकट्ठी हुई कि मानो मानवगण रूपी नाना-रंग-रञ्जित समुद्र-जल मौज मारता हो। अनङ्गपाल के सामन्तों का यथायोग्य सत्कार कर कुँवर ने नगर में प्रवेश किया। आगे नौबत निशानों की घोर ध्वनि और पीछे चलने वाले सहस्रों घोड़ों के खुरों से खुदती हुई पृथ्वी धूजने लगी। राज-लक्ष्मी का वासस्थान पुण्डरीकसम कनकदण्ड वाला श्वेत छत्र कुँवर के सिर पर छाया के वास्ते रक्खा गया। दोनों ओर ढुलते चमरों से उसके कर्ण-पल्लव फरफराते और परिजन मण्डल में आगे चलने वाले सहस्रों वीर जय-जय शब्द पुकारते थे। ऐसे अंग धारण कर आये हुए अनङ्ग के तुल्य कुँवर राज-मार्ग पर पहुँचे।

उसका सुन्दर आकृति देख, नर-नारियों के हृदय चन्द्रोदय के समय विकसित हुए कुमुद-वन जैसे प्रफुल्लित हो गये। यौवन-वन्त युवतियों के भ्रमर-लोचन कुंवर का मुख-कमल देख ऐसे लुभाये कि पलक मारना छोड़कर टकटकी लगाये हुए उसका रूप-रस पान करने लगे। राज्य-भवन के अन्तःपुर में कुँवर को देखने की उत्कण्ठा से आई हुई अलबेली अबलाओं की इतनी भीड़ हुई कि वह भवन नारीमय भासने लगा। कुँवर के मुख-चन्द्र निहारने की अभिलाषा से नारी-गण एक दूसरे को धकेल कर आगे बढ़ने लगीं और उसके रूप-रस में छकी हुई मदोन्मत्त होकर परस्पर परिहास-युक्त, विश्वास-युक्त, सम्भ्रम-युक्त, ईर्ष्या-युक्त, विलास-युक्त और काम-युक्त आलाप चलाने लगी। एक कहती थी कि अलि भागने वाली! मुझे भी तो साथ ले चल; अरे देखने के वास्ते गहली बनी हुई! अरे चपला! नैंक इधर हट। ओ चञ्चला! देख घबराहट में कहीं गिर न पड़े। बहन! क्या तुम ही देखा करोगी? हमें भी इस अनुपम सौन्दर्य की छवि देखने दो। अरी निर्लज्ज! तेरी सुध [illegible] ! आलि! तू ऐसी अधीरी क्यों बन

गई? ऐसे नाना प्रकार के वचन बोलती हुईं युवती-गण पृथ्वीराज की छवि में ऐसी छक गईं कि मानों अपने यौवन रूपी बलिदान से उसकी पूजा करती हों। कुँवर राज-द्वार पर पहुँच कर अश्व से उतरा, वहाँ अनङ्गपाल उसकी आगौनी के वास्ते खड़ा था। नाना दौहित्र परस्पर भेंटे और कुशल-क्षेम पूछी। तदुपरान्त कुँवर ने अन्तःपुर में जाकर नानी के चरणों में सिर धरा और अभ्यङ्ग-उबटन मल स्नानादि कर्म से निश्चिन्त हो भोजनोत्तर मार्ग का श्रम निवारण करने को शयन किया।

दूसरे ही दिन पृथ्वीराज के राज्याभिषेक का मुहूर्त्त था। सभा-मण्डप नाना प्रकार के पुष्प, पत्ती और सुनहरी रुपहरी वस्त्रों की मोतीदार झालरों से सजी हुई बन्दनवारों करके सुसज्जित किया गया। बीच में एक बड़ा यज्ञ-कुण्ड रच कर चारों ओर कुशासन और पाटाम्बर बिछाये। हवन के सर्व सुगन्धित द्रव्य और भाँति-भाँति की उत्तमोत्तम सामग्री वहाँ एकत्रित हो गई। प्रभात ही महाराज अनङ्गपाल सर्व नरपतियों और सभ्य सामन्त-गण सहित मण्डप में आन सुशोभित हुए। विद्वान् शिष्टाचारी धर्मात्मा ब्राह्मणों ने यज्ञ-कार्य आरम्भ किया। वेद-मन्त्रों से मण्डप गूँजने लगा। पुरोहित गुरुराम कुँवर पृथ्वीराज को लिवा लाये। उस समय सुसज्जित सभा-मण्डप में महीपालों के मध्य पृथ्वीराज ऐसा शोभता था जैसे तारागण के बीच चन्द्रमा। हवन प्रारम्भ हुआ। सुगन्धित द्रव्यों की आहुति से सुवासित बना हुआ समीर सभा-मण्डप से बाहर दसों दिशाओं में पृथ्वीराज की कीर्ति को साथ लिये हुए फैलने लगा। सर्व तीर्थों के जल से कुँवर को स्नान कराया गया। पुरोहित ने जय-तिलक भाल पर लगाया और महाराज अनंगपाल उपस्थित सभ्य-जनों के सम्मुख पृथ्वीराज को दिल्ली के पाट पर बिठा कर यों बोले—"उपस्थित राजा, महाराजा, और सभ्य सुभटगणो!

संसार में मनुष्य-जन्म, चाहे वह रङ्क हो या राव—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति-निमित्त है। जिसने बालापन में व्रत धारण कर विधि पूर्वक विद्याध्ययन न किया, द्वितीय आश्रम में धर्म से धन-संचय कर काम सिद्धि न की, व अन्त में परमार्थ को विचार परमानन्द प्राप्ति के हेतु यत्न न किया, उस मनुष्य का संसार में जन्म लेना ही वृथा है। काल की गति विकराल और अनिश्चित है। क्षण भर का ठिकाना नहीं। अतएव अब हमने यह ठान लिया है कि राज-सुख त्याग बद्रिकाश्रम में जा तप द्वारा परमार्थ करना। हम अपने दौहित्र पृथ्वीराज को अपने राज्य का स्वामी बनाते हैं और आशा रखते हैं कि आप लोग इस राज्य और भूमि को अपनी समझ इसकी रक्षा के निमित्त तन, मन, धन से सदा बद्ध-परिकर रहेंगे, और परस्पर के मेल-मिलाप को बढ़ा कर दिल्ली के राज्य की अचल कीर्ति में किसी प्रकार बाधा न आने देंगे।" तत्पश्चात् पृथ्वीराज को अपने सम्मुख कर कहने लगा कि "आज से मैं अपने सर्व राज्य और वैभव का स्वामी तुमको करता हूँ। जानने योग्य सर्व बात तुम जानते हो, क्योंकि तुमने शास्त्रों का अध्ययन किया है। तुमको उपदेश की आवश्यकता नहीं। परन्तु यौवन का अन्धकार स्वाभाविक रीति से गहन और लक्ष्मी का मद महादारुण है। ऐश्वर्य रूपी अन्धत्व का तिमिर ऐसा दुःखदायक होता है कि अञ्जन सलाई से भी नहीं मिटता। गर्व रूपी दाह-ज्वर की उष्णता ऐसी तीव्र है कि उपचार से वह नहीं जाती। विषय-रूपी विष के स्वाद से उत्पन्न होने वाला मोह ऐसा विषम है कि मूल या मन्त्र से वह कदापि नहीं उतरता। अनुराग रूपी मैल का लेप नित्य स्नान से नहीं जाता और राजसुख रूपी निद्रा ऐसी घोर होती है कि रात्रि का अन्त आते भी उसमें से उठा नहीं जाता। अतएव मैं कहता हूँ कि गर्वैश्वर्य, नवयौवन असामान्य रूप और अमानुषी शक्ति,

इनको सत्य जानना बड़ी अनर्थ-परम्परा है। यौवन के आरम्भ में शास्त्र-जल से प्रक्षालन की हुई निर्मल बुद्धि भी मलीन हो जाती है। भ्रान्ति उत्पन्न करने वाली, पवन वेग के तुल्य यौवन-अवस्था की प्रकृति, पुरुष को शुष्क पत्र के समान अति दूर तक उड़ा ले जाती है। उपभोगरूपी अतिगहन मृग-तृष्णा सर्वदा इन्द्रिय रूपी हरिणों का आकर्षण करती, विषयों में अत्याशक्ति मनुष्य को मोहित कर उन्मार्ग में ले जाती और उसका नाश करती है।

"योद्धाओं के खड्ग-मण्डलरूपी कमल वन में निवास करने वाली यह भ्रमरीरूप राज्यलक्ष्मी पारिजात पल्लव से राग, चन्द्रकला से बक्रता, उच्चैःश्रवा से चञ्चलता, विष से मोह शक्ति, मदरा से मद और कौस्तुभमणि से कठिनता ग्रहण करते क्षीर-सागर में से निकली है। इसके तुल्य अपरिचित जगत् में भी कोई दूसरा पदार्थ नहीं। गुणरूपी पाश के दृढ़ बन्धन और महा-योद्धाओं की खड्गलता पञ्जर में से भी यह पलायन कर जाती है। न तो यह उच्च कुल को, न रूप को देखती, न शील पर दृष्टि करती, न चतुर का चिन्तवन करती, न श्रुति को सुनती, न धर्म को मानती, न ज्ञान को विचारती, न आचार को पालती और न सत्य को सम्भालती है; परन्तु इन्द्रजाल के तुल्य देखते-देखते उड़ जाती है। उन्नति करते हुए भी यह नीच स्वभाव दर्शाती, जल-राशि में से उत्पन्न होने पर भी तृष्णा को बढ़ाती, अमृत की सहोदरा होते हुए भी परिणाम में कटु हो जाती है। यह तृष्णा रूपी विषलता का पोषण करने वाली जल-धारा, मोहरूपी दीर्घ निद्रा की विलास-शय्या, धन-मदरूपी पिशाचिका को निवास देने वाला प्रसाद और अविनयों के आगे उड़ने वाली पताका है। धन-मद से मत्त हुए पुरुषों को इन्द्रियाँ विविध प्रकार के विषय रस की इच्छा करने से पाँच होने पर भी अनेक सहस्र के समान प्रतीत होती हुई आकुल-व्याकुल होकर विकल बन जाती हैं।

"केवल स्वार्थ साधने वाले धूर्त्त लोग (धन-प्रभुतारूपी माँस का ग्रास करने के लिये गृद्ध पक्षी और सभामण्डपरूपी कमलिनी के बगले) स्वयं ठग विद्या में कुशल होने से राजा या धनी पुरुषों को समझाते हैं कि धूर्त्त कर्म भी एक विनोद, परस्त्री का समागम एक चतुराई, मृगया केवल एक प्रकार का श्रम, मद्य-पान करना ही विलास, प्रमत्तता ही शौर्य और गुरु-वचन का अनादर ही स्वतन्त्रता है। रसिक पुरुषों का लक्षण ही यही है कि नृत्य-गान-वादित्र और वेश्याओं में आसक्त रहे। बड़े-बड़े अपराधों पर लक्ष न देना ही महानुभावता, पराजय सहन करना ही क्षमा, स्वच्छन्दा से बर्तना ही प्रभुत्व, बन्दीजनों के बखान ही यश और मन की अस्थिरता ही उत्साह है। इसी प्रकार सर्व दोषों में धूर्त्त लोग गुण का आरोपण करते और देवताई स्तुति करने से राजाओं को ठगते हैं। द्रव्य-मद से मतवाले बने हुए उन प्रभुता वालों से चित्त विचार-हीन होने से इन सब बातों को यथार्थ मानकर मिथ्याभिलाषी बने हुए वे अपने को देवाँशी समझने लगते हैं। यही कारण है कि बहुधा राजा लोग विद्वान् धर्मात्मा का निरादर करके मूर्ख और कुपात्र को दान देते और स्वेच्छाचारी बन कर अन्त में अपना सर्वस्व नाश कर बैठते हैं। अतएव सद्गुरु के शान्तिकारक उपदेश पर सदा ध्यान रख कर इस साँसारिक धन-सम्पत्ति को चल जान धर्म कार्य में रत रहना, अपने सुभट सामन्त और प्रजा के प्रेम-सम्पादन करने में भूल न करना, अपने बल-प्रताप और आय-व्यय पर सदा ध्यान देना, विद्वान् धर्मात्मा और शिष्टाचारियों का सत्कार करना, दीनदुखियारों के दुःख दूर करने में सदा उद्यत रहना, और धर्म और नीति के विरुद्ध कभी आचरण मत करना। विशेष क्या कहूँ, वही कार्य करना जिसमें विद्या, धर्म और राज्य की वृद्धि हो।"

इतना कह अभिषेक की रीति पूर्ण कर अपने सर्व वैभव को त्याग, कमण्डल-मृगछाला और अपनी राणी समेत बदरिकाश्रम को जाने की तय्यारी की। महाराज अनंगपाल की यह अवस्था देख उनके सुभट और प्रजागण नेत्रों से जलधारा छोड़ते साथ हो लिये। अन्तःपुर में महाराणी के वियोग का महादुःख हुआ। निदान राजा राणां ने सबको धैर्य दे समझा-बुझाकर पीछे फेरा और पृथ्वीराज नीतिपूर्वक प्रजा-पालन करता हुआ दिल्ली का राज्य करने लगा।

पाठ ६

पृथ्वीराज का रण-कौशल (२)

यद्यपि सुल्तान शहाबुद्दीन ग़ोरी पहले कई बार पृथ्वीराज से हार कर दण्ड पा चुका था, तथापि अहर्निशि उसको चहुआन पर विजय पाने की लगन लगी रहती थी। उसने कई व्रत लिये और सैकड़ों गुप्त दूत सदा दिल्ली में रखता था कि वे चहुआन की ख़बर बराबर उसे पहुँचाते रहें, जब अवसर देखता तभी चढ़ आता और हार खाकर पीछे लौटता था।

एक बार दूतों द्वारा ख़बर मिली कि पृथ्वीराज सामन्तों सहित आखेट को गया है तो सुल्तान छः लाख सेना रोमी, हबशी, खुरासानी, मुग़ल और गक्खरों को लेकर चढ़ आया। जब चहुआन को मालूम हुआ तो उसने जैतराव प्रमार को सेनापति बना सन्मुख भेजा। घग्घर के मुक़ाम पर युद्ध हुआ। कन्हराय सुल्तान को पकड़ अजमेर ले गया और पंजाब, पेशावर, काश्मोर, कन्दहार और कई पश्चिमी प्रदेश उससे दण्ड में लेकर मुक्त किया। सुल्तान ने क़ुरान पर हाथ धर कर क़सम खाई कि

अब मैं कभी इधर मुँह न करूँगा, तब लोहाना आजानबाहु को साथ देकर उसे ग़ज़नी पहुँचा दिया। इसी प्रकार पीपा पड़िहार, मंत्री कैमास, कूरम्भराय पज्जून और अन्य सामन्तों ने पृथक् पृथक् लड़ाइयों में सुल्तान पर विजय पाई।

रणथम्भौर के यादव राजा मान के हंसावती नामक एक कन्या थी। उसके रूप-गुण की चर्चा देश-देशान्तरों में फैल गई और कई नरपति उसके हस्तकमल की इच्छा करने लगे। चन्देली के राजा बलवीर शिशुपालवंशी ने राजा मान के पास अपना पुरोहित भेज हंसावती की याचना कराई। परन्तु राजा मान नट गया। पुरोहित का निराश फिरना सुनकर बलवीर बोला कि यदि रसाई के साथ सगपन न हुआ तो अब खड्ग-बल से मान का अभिमान तोड़ हंसावती को बरूँगा, और सुल्तान शहाबुद्दीन ग़ोरी को अपनी सहायता के लिये बुलाया। सुल्तान तो इन देशी राजाओं के ऐसे झगड़ों में पड़ कर अपना अभिप्राय सिद्ध करना चाहता ही था। तत्काल सेना सजा चन्देली के राजा से आ मिला और रणथम्भौर पर चढ़ाई की। जब यादव राजा मान को ख़बर हुई कि बलवीर सुल्तान को लिये मेरे पर चढ़ा है तो उसने पृथ्वीराज के पास अपना दूत भेज कर कहलाया कि यह हंसावती आपके योग्य है। मैं चाहता हूँ कि उसका विवाह आपसे करूँ, परन्तु चन्देली का राजा बलवीर सुल्तान ग़ोरी की सहायता से बल-पूर्वक उसे व्याहने के लिये चढ़ा चला आता है, सो आप शीघ्र आकर संकट हरिये। दूत के वाक्य सुन कर पृथ्वीराज ने अपने काका कन्ह चौहाण को रावल समरसिंह के पास चित्रकूट भेजा और निवेदन कराया कि इस समय आपकी सहायता की आवश्यकता है। रावल ने कन्ह को सम्मान-पूर्वक विदा कर कहा कि मैं अमुक स्थान पर तुमसे आन मिलूँगा।

पृथ्वीराज ने अपने सामन्त बुलाये, रण के बाजे बजाये और प्रस्थान किया। आगे रावल को सेना साहित साथ लेता हुआ रणथम्भ जा पहुँचा। रणथम्भ का नगर वीर रस का सदन बन रहा है; इधर सुल्तान व बलवीर की सेना सजी-सजाई पड़ी है। राजा मान भी अपने वचन और मर्यादा का पालन करने को युद्ध के लिये तैयार है। चारों ओर युद्ध की ही चर्चा चल रही है। ऐसे समय में हंसावती बिलखती सी एक तकिये का सहारा लिये अपने महल में अपनी एक सखी के पास बैठी यों बात-चीत कर रही है—

हंसावती—सखि अनङ्गबाला! देख तो मुझ अभागिनि के लिये पिताजी को कितना कष्ट सहना पड़ता है।

अनङ्गबाला—प्रिय सखि! मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि इस कनक कान्तिमय दिव्य राज-हंसिनी की स्नेह-पाश में बंधे हुए कितने ही हंस मदनवेगरूपी महाजलाशय में डूब मरेंगे।

हंसावती—[कुछ भौहें तानकर] सखि! यह अवसर हँसी का नहीं है। मैंने तो सुना था कि पिताजी ने दिल्लीपति के पास दूत भेजा है, देख तो दुष्ट यवनों ने नगर घेर लिया। बलवीर अपने बल के अभिमान में छका हुआ नित्य नये कष्ट देता है; परन्तु पृथ्वीराज अब तक न आये, इसका क्या कारण है? क्या वे मार्ग में कहीं बिरम तो नहीं गये?

अनङ्ग०—प्रतापी पृथ्वीराज बात के सच्चे और उनसे प्रीति करने वाली पराधीन राज-कन्याओं का दुःख दूर करने में कभी चूकने वाले नहीं हैं। वे अवश्य कहीं पास ही होंगे, अब आकर तुम्हारा दुःख हरते हैं।

हंसावती—[कुछ अधीर सी होकर] मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि इस बार शत्रु की प्रबलता देखकर वे शायद पीछे

हट गये हों, नहीं तो उनके विरह में जलने वाली हंसावती को अपने प्रेम-रूपी सरोवर में डाल मुख-चन्द में से झरते हुए वाक्यामृतरूपी मुक्ताफलों से कभी का सन्तोष दिया होता। [फिर कुछ सोचकर] अरे दुष्ट मदन! तू मुझे क्यों सताता है? यह तो मेरे भाग्य का दोष है कि मेरे प्रीतम ने मेरी सुध बिसार दी। सखि! आज तो उनकी फिर बाट है, कल अवश्य अपना प्राण त्याग करूँगी।

अनङ्ग०—राजकुमारी! इतनी अधीरी क्यों होती हो? टुक धीरज धरो। इश्वर की दया से निराश होना महामूर्खता है। इतने में दूर बजते हुए धौंसे की गम्भीर ध्वनि कान में पड़ी। हंसावती चौंकी। अनङ्गबाला बोली—अवश्य ही पृथ्वीराज आ पहुँचे। दोनों दौड़ती हुई ऊपर छतपर चढ़कर मार्ग की ओर देखने लगीं। नगर से बाहर दो एक मील की दूरी पर उड़ती हुई रेणु का बादल दृष्टि पड़ा और थोड़ी देर में तो स्पष्ट होगया कि एक धूल का गोट, कूदते हुए सहस्रों सैन्धवों की खुरियों और झूम-झूम कर चलने वाले मातङ्गों के पाँवों से उड़ा हुआ है। अनङ्गबाला बोली—राजकुमारी! तुम्हारे प्रीतम आन पहुँचे। बधाई दीजिये।

हंसावती—[कुछ लजा कर] सखि! बधाई का समय तो अभी दूर है (तृषातुर हंसिनी की तृप्ति तो मानसरोवर का मधुर जलपान करने से ही होगी।)

युद्ध के नाना बाजित्र और नक्कारे की गम्भीर ध्वनि से यवनों के चित्त को सन्ताप पहुँचाने और यादवों का ताप हरने वाले रावल समरसिंह और पृथ्वीराज सेना साहित आन पहुँचे। राजा मान ने सत्कारपूर्वक आगौनी कर उचित स्थान में उतारा करवाया और सर्व उचित प्रबन्ध करवा दिया। रात की रात आराम लेकर प्रभात होते ही दोनें तरफ के दल रण-क्षेत्र में आ

जमे और युद्ध होने लगा। एक प्रहर के घोर संग्राम के पीछे शिशुपालवंशी राजा को रावल समरसिंह के भाई अमरसिंह ने बाँध लिया और सुल्तान को रावल ने परास्त किया।

राजा मान ने शत्रुओं से उद्धार पाने पर बड़ी धूम-धाम के साथ अपनी पुत्री हंसावती का विवाह पृथ्वीराज के साथ कर दिया और बहुत से हाथी, घोड़े, रथ, पालकी, दास दासी और रत्न दहेज में दिये। गुर्जर देश के अधिपति चौलुक्य राजा भी उस समय वहाँ उपस्थित थे। सोलंखियों ने रावल समरसिंह और पृथ्वीराज को पाहुने कर छल से उन पर चूक करने के विचार से उन्हें एक गृह में बन्द कर दिया था। परन्तु पज्जून राय ने घर को तोड़ कर उन्हें निकाल लिया। यहाँ सोलंखियों के साथ लड़ाई में पज्जून का पुत्र कूरम्भदेव काम आया।

❀ दोहा ❀

तेजसिंह सुत समरसी, तिहि सुत कुम्भ नरेस।
संभरि संभरि वार है, दोहित्तो सो भेस॥

दिल्ली और चित्रकूट का सम्बन्ध दृढ़ करने को पृथ्वीराज ने चाहा कि अपने भानजे, बाई पृथा के पुत्र के नाम पर कोई पर्गना देवे, परन्तु जब रावल समरसिंह को यह बात जान पड़ी तो उसने क्रोध में आकर पट्टा फाड़ डाला और कहा कि दानव-वंशियों की मति दैत्यों की सी होती है, वीर बापा रावल के वंशज हम कभी हाथ झुकाना नहीं जानते किन्तु सदा से तुम्हारे जैसे कई राजाओं को दान देते आये हैं। जब पृथ्वीराज ने देखा कि रावल क्रोध में है तो विनय सहित उससे कहा कि आप मेरा अपराध क्षमा कीजिये, मेरी क्या सामर्थ्य है जो आपको दान दूँ, मैंने तो केवल अपने भानजे की प्रीति से ऐसा विचार किया था।

❀ छप्पय ❀

हंसराय हंसनिय, पानि ग्रहनी ग्रह हल्लिय।
मालव द्रुग देवास, वास युध तत्रव वल्लिय॥
हय गय धुर धर ध्रम्म, कर्म कित्ती अति दानह।
ता पीछे रनथम्भ, प्रीति खींची चौहानह॥
चित्रंग राइ रावर रमिय, देव-राज जद्दव वहिय।
बित्तिय बसन्त रिति अब्भरिय, अचल एक कित्ती रहिय॥

एक दिन पृथ्वीराज दिल्ली में अपने सूर सामन्तों के बीच आनन्द के साथ बैठा वार्त्तालाप कर रहा था। बन्दीजन यश वर्णन करते थे। देश-देश के छत्रपति अपने अपने आसन पर आरूढ़ थे कि द्वारपाल ने आकर निवेदन किया कि महाराज मालव देश में सारंगपुर का रहने वाला एक विप्र द्वार पर खड़ा महाराज के दर्शन करना चाहता है। आज्ञा हुई कि आने दो। ब्राह्मण जब सन्मुख आया तो उसने हाथ उठाकर राजा को आशीर्वाद दिया। कुशल-क्षेम पूछने के उपरान्त पृथ्वीराज ने प्रश्न किया कि विप्र! तुम्हारा आना कहाँ से और किस प्रयोजन के अर्थ हुआ है? ब्राह्मण बोला—पृथ्वीराज! मालव देश में सारंगपुर नामी नगर के राव भीम का भेजा हुआ मैं आया हूँ। राव के इन्द्रावती नामकी एक पुत्री तीनों लोक की सुन्दरता का सार और चौसठ-कला-प्रवीण है उसका सम्बन्ध आपसे करने के लिये राव ने नारियल भेजे हैं। विप्र से यह समाचार सुन पृथ्वीराज प्रसन्न हुआ और शुभ मुहूर्त्त में नारियल झिला, लग्न निश्चित कर, बहुत सा दान दक्षिणा ले ब्राह्मण तो पीछे लौटा और पृथ्वीराज अपने सामन्तों को साथ लिये सारंगपुर की ओर चला।

मार्ग में चित्रकूटाधिपति रावल समरसिंह का प्रधान आकर मिला। उसका उचित सत्कार करने के पश्चात् रावल की कुशल-क्षेम और उसके आने का कारण पूछा। प्रधान ने कहा कि गुर्जरपति भीमदेव असंख्य सेना लेकर चित्रकूट पर चढ़ आया है। रावल युद्ध का सामान कर रहे हैं और मुझे इधर भेजा है। सुनते ही पृथ्वीराज हँस कर बोला—योगीन्द्रराज रावल समरसिंह से युद्ध करने का हियाव भीमदेव को कैसे हुआ ? फिर राव पज्जून, कन्ह चौहान, रामराय बड़गूजर, चन्द पुण्डीर, अत्ताताई, निड्डुरराय, जैसिंह, कैमास, चन्द बर्दाई और पुरोहित गुरुराम को बुला कर अपना खड्ग सौंपा और कहा कि तुम सारंगपुर पहुँच कर इस मेरे खड्ग के साथ इन्द्रावती को विवाह लाओ। मैं भीमदेव का बल देखने चित्तौड़ जाता हूँ। आज्ञानुसार पुरोहित गुरुराम खड्ग लिये सामन्तों सहित सारंगपुर चला और शेष सेना को साथ ले पृथ्वीराज चित्तौड़ आन पहुँचा।

गढ़ के नीचे पहुँच कर क्या देखता है कि गुर्जर देश की सेना दुर्ग को घेरे पड़ी है और दोनों ओर से युद्ध हो रहा है। तत्काल पृथ्वीराज ने अपने घोड़े शत्रु की सेना पर छोड़ दिये। इस प्रकार अचानक सहस्रों शूरवीरों के चमकते हुए खड्ग खुलने से भीमदेव की सेना भयचक सी रह गई। उधर गढ़ पर से रावल ने मारना आरम्भ किया यहाँ तक कि गुजरात के तीस सहस्र योद्धाओं में से एक भी जीता न बचा और परास्त होकर भीम गुजरात को भाग गया। पृथ्वीराज रावल का पाहुना हुआ।

उधर जब सामन्तगण खड्ग लिये सारङ्गपुर पहुँचे तो राव भीम ने कह दिया कि मैं तो खड्ग के साथ अपनी कन्या कदापि न व्याहूँगा। क्या पृथ्वीराज ने मुझको ऐसा तुच्छ समझा कि मेरे घर स्वयं तोरण बाँधने को नहीं आया ? चन्द बोला कि

महाराज! यह बात नहीं है, मार्ग में चित्रकूट पर युद्ध होता सुन कर पृथ्वीराज उधर चले गये क्योंकि क्षत्रिय का मुख्य धर्म यही है कि अत्यन्तावश्यक कार्य को भी त्याग कर एक बार मित्र की सहायता के निमित्त युद्ध में अवश्य जावे; ऐसे ही दूसरे सामन्तों ने भी राव को बहुत समझाया, परन्तु राव भीम ने कुछ भी न माना। तब तो सामन्त बोले कि हम लोग इन्द्रावती को लिये बिना यहाँ से फिर जावें, यह कदापि होना नहीं; या तो कन्यादान कर दीजिये या युद्ध करिये। हठ ग्रहण किये हुए राव भीम भी युद्ध को तय्यार हुआ, परन्तु अन्त में हार खाकर पृथ्वीराज के खड्ग के साथ उसने इन्द्रावती के फेरे फिरा दिये और एक सौ हस्ती, एक सहस्र घोड़े और बहुत सा धन दहेज में देकर उसे बिदा किया। नव वधू को लिये सामन्तगण पृथ्वीराज के पास आये और वहाँ का सर्व वृतान्त कह सुनाया। इन्द्र के तुल्य चहुआनराज इन्द्रावती के समागम से आनन्द उठाता इद्रावती के समान अपने राजस्थान दिल्ली में प्रसन्नता के साथ पहुँचा।

पाठ १०

ग्वाल-पुत्र

उच्चाभिलाषा विश्वस्त सेवक होने के साथ ही साथ घातक स्वामी भी है। जो शान्तिपूर्वक रहना चाहते हैं, उन्हें इससे बचा रहना चाहिये।

बलदेव इस सत्य से सर्वथा अनभिज्ञ था। उच्चाभिलाषा ही उसके जीवन की स्वामिनी थी। इसे छिपाने की उसने कोई चेष्टा भी नहीं की, बल्कि लोगों को अपनी भविष्य-वाणियों से कि मैं

भविष्य में यह हो जाऊँगा, वह हो जाऊँगा, बराबर तंग किया करता था। उसका कहना था कि मैं वह विद्या सीखूँगा, जिसकी सहायता से मैं जो चाहूँगा, कर सकूँगा। वर्षों निरन्तर अपनी तर्कों से सिवाय लोगों को तंग करने के उसने और कोई गुण न प्राप्त कर पाया। उसकी अण्ट-सण्ट बातों के कारण लोग उसे पागल कह कर घृणा करने लगे। उसके इस व्यवहार से वृद्ध माँ-बाप को भी बड़ा दुःख होता था और वे सदा उदास रहते थे। उसकी माँ कहती थी कि मैं स्वयं अपने लड़के की बातें नहीं समझ सकती। जान पड़ता है कि वह पागल हो गया है।

बलदेव इन सब कथनों की लेश-मात्र भी परवाह न करता था। उसके सामने एक गुप्त उद्देश्य था—वह था, उस शक्ति की प्राप्ति, जिससे वह देवताओं के समान शक्तिशाली हो जावे और वह उसी की पूर्ति में तल्लीन था। एक ग्वाल-पुत्र में इतने ऊँचे विचारों का होना अनोखी बात थी। अत्यन्त सोच-विचार के बाद उसने निर्णय किया कि बिना किसी महात्मा की सहायता के उसका उद्देश्य पूरा नहीं हो सकता। अतः वह ऐसे महात्मा की खोज में लग गया।

उसे ज्ञात हुआ कि कुछ ही मील दूर एक गाँव में एक बड़े महात्मा रहते हैं। परन्तु लोगों का कहना था कि वे किसी को अपना शिष्य नहीं बनाते। बलदेव हताश न हुआ और अपने भाग्य पर भरोसा कर महात्मा की शरण में जाने को उद्यत हुआ।

केवल १८ वर्ष की अवस्था में एक दिन वह महात्मा की खोज में चल पड़ा। मार्ग में विचित्र भावनाऐं उसके मस्तिष्क को आच्छादित कर रही थीं। वह महात्मा को अपना परिचय किस प्रकार देगा? अगर महात्मा ने उसे अपना शिष्य न बनाया तो क्या

होगा ? महात्मा को सन्तुष्ट करने की वह कौनसी युक्ति काम में लाये, इत्यादि-इत्यादि। ये सब भावनाएँ उसे परास्त न कर सकीं और अन्त में एक दिन उसके हृदय में पूर्ण विश्वास हो गया कि परमात्मा ने उसे विशेष ज्ञान प्राप्त करके संसार में उसका प्रचार करने के लिये भेजा है।

चलते-चलते वह एक चौराहे पर आकर रुक गया और बड़े सोच-विचार के उपरान्त दाहिनी ओर वाले मार्ग पर अग्रसर हुआ। कुछ ही दूर चलने के उपरान्त उसने एक अति सुन्दरी बालिका सिर पर लकड़ियों का बोझ रखे हुए देखी। अचानक एक मार्ग-दर्शक को सामने पाकर उसने अपने को बड़ा भाग्यशाली समझा। बालिका अति तीव्र गति से जा रही थी। बलदेव तुरन्त उसके समीप पहुँचा, और विनम्र भाव से सामने जा दबी हुई आवाज़ से बोला—"हे सुन्दरी! कृपा कर..........."।

वह अधिक न बोल पाया था कि बालिका रुक गई और उसकी ओर देखने लगी। चरवाहे का यह गँवार लड़का जो सुन्दरता के विषय में बिलकुल अनभिज्ञ था, उसके मुख की सुन्दरता और नेत्रों की ज्योति से चकित हो गया। बालिका ने बड़े गम्भीर भाव से बलदेव को सिर से पैर तक विवेचनात्मक दृष्टि से देखा और मन में कुछ भी विचलित न हुई, जैसा कि एक बालिका के लिये एक अपरिचित व्यक्ति के अचानक आगमन पर होना सम्भव था। बड़े नम्र स्वर में बालिका ने कहा—"महाशय! आप क्या चाहते हैं? मैं जो सेवा करने के योग्य हूँ, करने को प्रस्तुत हूँ।"

बालिका इतनी सुन्दरी थी कि एक पाषाण-प्रतिमा का मन भी उसे देख कर विचलित हो सकता था, यह गँवार युवक तो मनुष्य

था। वह बोला—"मैं उस स्थान का मार्ग जानना चाहता हूँ जहाँ पर शुक्र नामक महात्मा रहते हैं। मैं उनका यश सुन कर उनके दर्शनार्थ आया हूँ।"

बालिका का नाम इन्दुमती था। उसके हृदय में नवीन जागृति के लिये उतना ही प्रेम था, जितना कि बलदेव के हृदय में। स्त्री-जाति का सच्चा आदर्श सेवा ही उसके जीवन का मुख्य उद्देश्य था। सेवा के लिये वह सर्वदा तत्पर रहती थी।

सेवा-क्षेत्र उपलब्ध न हो सकने के कारण उसका समय निश्चेष्ट बैठने में या विचार-ग्रन्थियों को सुलझाने में व्यतीत होता था।

बलदेव के मार्ग-जिज्ञासा करते ही उसके शरीर में बिजली सी दौड़ गई। मन में यही भाव उत्पन्न हुआ कि अवश्य ही यह वही व्यक्ति है, जिसकी तपस्या में वह रत थी, जिसे वह अपना सर्वस्व अर्पण कर चुकी थी और जो उसका सच्चा प्रेमी तथा भविष्य में स्वामी होने के सर्वथा योग्य है। यह भावना बहुत ही आकर्षक थी, लेकिन इन्दुमती ने इस पर बड़ी गम्भीरता से विचार किया।

अतः बलदेव का प्रश्न सुनने से ही उसका हृदय सहायता पहुँचाने के लिये उमड़ पड़ा। वह बड़े विनम्र शब्दों में कहने लगी—अगर आप शुक्र मुनि की खोज में हैं तो मैं स्वयं आपको वहाँ पहुँचा दूंगी। शुक्र मुनि मेरे पिता हैं, अतः आपको वहाँ पहुँचाने में बाधा न होगी।

इसी प्रकार वार्तालाप में विलीन वे उस कुटी के द्वार पर आ पहुँचे, जिसमें शुक्र मुनि रहते थे। बलदेव को द्वार पर खड़े रहने का आदेश कर इन्दुमती अन्दर चली गई। कुछ ही क्षण उपरान्त उसने आकर कहा कि पिताजी ने अभी, इसी समय से ही तीन दिन का व्रत आरम्भ कर दिया है और इस अवस्था

में वे किसी से वार्तालाप न करेंगे। इसीलिये मुझे आपके आगमन की सूचना देने का साहस नहीं हुआ; अतः आप तीसरे दिन आने की कृपा करें।

"लेकिन तुमने सूचित करने का वचन दिया था........" बलदेव ने कहा। "सो मैं जानती हूँ, परन्तु इस समय मैं कुछ नहीं कह सकती। आप तीसरे दिन आइये, उस समय मैं आपसे अवश्य परिचय करवा दूंगी। आज परिचय होना असम्भव है।" बालिका ने कहा।

इस प्रकार असफल होना बलदेव को अच्छा न लगा। वह क्रोध के मारे काँपने लगा, परन्तु इस समय सिवाय चुप रहने के और कोई चारा न था! 'बहुत अच्छा' कह कर चलने के लिये वह पीछे की ओर मुड़ा और फिर रुक कर इन्दुमती की ओर देखते हुए बोला—"यद्यपि उनसे वार्तालाप न होगी फिर भी क्या मैं इस बीच में तुम्हारे दर्शनार्थ भी नहीं आ सकता?"

यह सुनते ही इन्दुमती के कपोलों पर लालिमा दौड़ गई और नीचे को सिर झुकाते हुए उसने उत्तर दिया—"आप कल इसी समय उसी स्थान पर जहाँ कि आज आपसे मेरी भेंट हुई थी आ सकते हैं, मैं वहाँ लकड़ी बीनने जाऊँगी।" अपने इस कथन पर विचार करके वह कुछ लज्जित हुई और शीघ्रता के साथ किवाड़ बन्द करके अन्दर चली गई। बलदेव सोच-विचार में निमग्न घर की ओर चल दिया।

दूसरे दिन इन्दुमती ने बलदेव से मिलने के लिये पूर्वरूपेण तैयारियाँ कीं। उसके पिता तो अपने ध्यान में मग्न ही थे, नहीं तो उन्होंने इन्दुमती को इस हेतु अवश्य फटकारा होता। अतः पिता की ओर से सर्वथा निश्चिन्त होकर अत्यन्त प्रसन्न मन से वह बलदेव से मिलने को प्रस्तुत हुई।

मोतिया रँग की सुन्दर साड़ी पहन, सिर फूलों से सजा एवं अन्य समस्त अंगों को यथोचित सुन्दर आभूषणों से सुशोभित कर इन्दुमती बलदेव से मिलने चली।

इन्दुमती को देख बलदेव कठपुतले के समान निश्चल सा रह गया। उसे स्वयं इसका कारण समझ में नहीं आ रहा था कि रातभर उसे नींद क्यों नहीं आई। सुविशाल लज्जावनत नेत्रद्वय निरन्तर उसे घेरे फिर रहे थे। इन्दुमती की मधुर ध्वनि उसके कानों में गूँज रही थी।

इन्दुमती को आते देख बलदेव उससे मिलने के लिये अग्रसर हुआ, परन्तु उसके नेत्र हृदय की हिचकिचाहट प्रतिबिम्बित कर रहे थे।

"नमस्कार, तुम आज कितनी सुन्दर प्रतीत होती हो, क्या यह सब मेरे ही लिये है? बलदेव ने गद्गद् होकर कहा।

इन्दुमती का मुख-देश रक्तवर्ण हो गया, वह बोल न सकी। इस हिचकिचाहट ने उसके सौन्दर्य-सूर्य की आभा को द्विगुणित कर दिया।

बलदेव ने इन्दु से टोकरी ले ली और कहने लगा—"क्या वास्तव में ऐसी सुहावनी सन्ध्या के समय भी तुम परिश्रम करना चाहती हो?"

"लेकिन मुझे तो अवश्य ही करना है क्योंकि मेरे घर में एक भी लकड़ी शेष नहीं बची है", इन्दु ने उत्तर दिया।

"तब मैं तुम्हारी सहायता करूँगा; नहीं, स्वयं तुम्हारे लिये लकड़ी बीनूँगा और तुम इस नीम के नीचे शान्तिपूर्वक विश्राम करो।"

इन प्रेममय शब्दों ने इन्दु के सुकपोलों पर पुनः लालिमा दौड़ा दी, वह पेड़ के नीचे बैठ गई। इन शब्दों का इन्दु के हृदय पर यथेष्ठ प्रभाव पड़ा। इधर बलदेव स्वयं आश्चर्य में था, क्योंकि अबतक

कभी भी उसके शब्दों में इतना माधुर्य न आया था और न इसके पहिले उसे ऐसी प्रेममयी भावनाओं का ही अनुभव प्राप्त हुआ था। लकड़ी बीनते समय उसके मन में विचार उत्पन्न हुआ कि उसे साव-धान होजाना चाहिये नहीं तो वह प्रेम में फँस जावेगा। और उस प्रेममयी भावनाओं को रोकना उसके लिये अत्यन्त आवश्यक था, क्योंकि उच्चाभिलाषा उसकी आराध्य देवी थी।

ऐसे विचारों में निमग्न उसने टोकरी लकड़ियों से भर ली। टोकरी को एक किनारे रख वह इन्दु के समीप घास पर लेट रहा।

सहानुभूति प्राप्ति की आकाँक्षा रखते हुए दबे हुए शब्दों में इन्दुमती ने कहा कि—"आप तो बहुत थक गये।"

बलदेव ने कुछ उत्तर न दिया और न उसकी ओर देखा ही; बल्कि वह एकटक सूर्यास्त की ओर देखता रहा।

उसने एकाएक पूछा—"तुम्हारे पिता क्या अभी भी तपस्या कर रहे हैं?"

"क्यों नहीं, मैंने आपसे कहा न था कि वे तीन दिन बराबर ध्यान में मग्न रहेंगे।" इन्दुमती ने कुछ खिंची आवाज़ में कहा, क्योंकि उस समय उसे सिवाय अपनी चर्चा के और कुछ न सुहाता था।

"क्या वे अपनी प्रतिज्ञाओं का सर्वदा पालन करते हैं?"

"सर्वदा।"

"और........क्या तुम भी जो कहती हो, उसे पूरा करती हो?"

रोषपूर्ण दृष्टि से बलदेव की ओर देखते हुए इन्दु ने उत्तर दिया—"हाँ" और चुप हो रही।

सन्ध्या हुई, अँधेरा हो चला। शीतल समीर के मन्द-मन्द झोकों ने इन्दु के शरीर को एक बार कम्पायमान कर दिया।

"मुझे अब जाना चाहिये", ऐसा कहती हुई वह उठ खड़ी हुई और अपनी टोकरी उठाने लगी।

"मैं भी तुम्हारे साथ चलता हूँ", बलदेव ने कहा और दोनों जन-शून्य अरण्य में चुपचाप घर की ओर अग्रसर हुए। इन्दु का हृदय प्रतिज्ञा-भङ्ग के भय से अशान्त था और बलदेव क्षणिक अशान्त था, परन्तु वह अपने ध्यान में मस्त था। इन्दु को द्वार तक पहुँचा कर यह कहते हुए कि "परसों मैं यहाँ पुनः आऊँगा, तुम अपना वचन पूरा करना", बलदेव चला गया।

उस समय से बलदेव के पुनः आगमन तक इन्दु के मन की विचित्र ही दशा रही। उसका मन तूफान से डाँवाडोल जलयान की भाँति अशान्त और अनिश्चित था। अत्यन्त उदार होने के कारण बलदेव के पुनः आगमन की प्रतिज्ञा-समय ही वह उसे अपना सर्वस्व अर्पण कर चुकी थी। ऐसी अवस्था में उसे यह ज्ञान ही किस प्रकार हो सकता था कि बलदेव को उसकी चाह है अथवा नहीं या केवल स्वार्थ ने ही बलदेव को उससे परिचय प्राप्त करने के लिये बाध्य किया था। उसने बलदेव, जो उसके शील और सौन्दर्य की भूरि-भूरि प्रशंसा करता था, उसमें उसने अपनी चाह के अनुसार सौन्दर्य और शिष्टता का उचित समागम देखा। इन्दु उसे सच्चे हृदय से प्रेम करने लगी। बल्देव के प्रेम में यह बात न थी। इन्दु को साथी बनाने की उसे अब अधिक लालसा नहीं रही। इन्दु निराशा के अन्ध-कूप में ढकेल दी गई।

बलदेव के प्रति इन्दु का प्रेम पूर्णावस्था को प्राप्त हो चुका था, वह उसे देवता समझ कर भक्ति करने लगी थी। किन्तु अन्त में उसे ज्ञात हुआ कि बलदेव का प्रेम निःस्वार्थ नहीं है। अपनी इस दशा पर उसने दिन भर आँसू बहाये और हृदय को शान्त्वना देने की पूरी-पूरी चेष्टा की।

निश्चित समय पर बलदेव आया और वह उसे अपने पिता के समीप ले गई। वह मन ही मन ईश्वर से प्रार्थना कर रही थी कि या तो शुक्र के प्रभाव से बलदेव का स्वार्थी मन पलट जाय या कोई कड़ा प्रहार उसे सदा के लिये इस संसार से हटा ले।

चूँकि इन्दु ने अपने पिता को सन्तुष्ट कर लिया था, अतः उन्होंने बलदेव को अपना शिष्य बना लिया।

आरम्भ में बलदेव को अत्यन्त प्रतिभाशाली व होनहार देख कर शुक्र को बड़ी प्रसन्नता हुई। कुछ ही वर्षों के शिक्षण के उपरांत उन्हें ज्ञात हुआ कि उनका गुरु-चेला का सम्बन्ध-स्थायी नहीं रह सकता, क्योंकि थोड़ी ही उन्नति में बलदेव को सन्तोष होगया और उसमें देवताओं से समानता करने की अभिलाषा और भी दृढ़ होने लगी। उसे बड़ा आश्चर्य हुआ, जब कि एक दिन प्रातः-काल शुक्र ने उसे बहुत ही झिड़का।

शुक्र ने कहा—"बलदेव ! अब शिक्षा देना व्यर्थ है, मैं तुम्हें अब और शिक्षा न दूँगा। तुम्हारी बुद्धि तुम्हें जहाँ तक पहुँचा सकती थी, तुम पहुँच चुके। अब तुम्हें बुद्धि से भी गूढ़ वस्तु की आवश्यकता है, जिसे मैं तुम्हें नहीं दे सकता। तुम आत्मा से शून्य हो। एक हृदय, जिसमें सिवाय उच्चाभिलाषा के दूसरी वस्तु नहीं, ज्ञान-मार्ग में कुछ भी उन्नति नहीं कर सकता।" अपनी उच्चाभिलाषा को ठुकराये जाते देख बलदेव एक निराश बालक की भाँति रोने लगा। शुक्र फिर कहने लगे—"तुम्हारा उपचार तुम्हारी दृढ़ प्रतिज्ञा में है और कहीं नहीं। इतने ज्ञान की प्राप्ति में केवल यही तुम्हारी सहायक थी। और अधिक ज्ञान प्राप्त करने की अभिलाषा किसी महत्त्व की नहीं। वत्स ! जाकर अपनी आत्मा की खोज करो, उसे प्राप्त कर लेने पर मैं तुम्हें आगे शिक्षा दूँगा।"

बलदेव बहुत रोया, बहुत गिड़गिड़ाया, लेकिन शुक्र ने लेश-मात्र भी ध्यान न दिया और न दया ही दिखलाई। अन्त में हताश हो अपनी आत्मा की खोज में वह जंगल की ओर चला।

अनेक जंगलों और देशों में उसने भ्रमण किया और भिन्न-भिन्न प्रकार के अनुभव प्राप्त किये। उसे ज्ञान न था कि इन्दुमती जिसके साथ वह वर्षों रह चुका था, शुक्र की कृपा से अदृश्य होकर उसके पीछे-पीछे घूम रही है। एक दिन वह एक गिद्ध के टूटे पर को सम्हालने लगा तो वह उसके हाथों ही में मर गया। यह देख उसका हृदय दया से भर गया। उसे बड़ा दुःख हुआ, यहाँ तक कि वह शिर नीचा कर घण्टों रोता रहा।

इन्दु ने जाकर यह समाचार शुक्र को सुनाया तो वे बहुत प्रसन्न हुए।

एक दिन जंगल में लकड़ी बीनते समय इन्दु ने एक वृद्ध कमर को झुकाये हुए अपनी ओर आते देखा। पहचानते ही इन्दु ने दौड़ कर उसका स्वागत किया और बोली "आप शीघ्र पिताजी के पास चलें, देरी होने से सारा काम बिगड़ जायगा।"

आगन्तुक ने आश्चर्य भरी दृष्टि से पूछा "क्या वे अभी जीवित हैं?"

"हाँ, क्योंकि हम लोग अमर हैं", इन्दु ने उत्तर दिया और उसे कुटी में ले गई।

कुटी में प्रवेश करते ही एक बड़ी आश्चर्य-जनक घटना हुई। बलदेव का बुढ़ापा दूर हो गया। वह पहिले की तरह बिल्कुल सीधा और हृष्ट-पुष्ट तथा सुन्दर युवक होगया। यह परिवर्त्तन एक ही क्षण की घटना है। उसके नेत्रों में अब घबड़ाहट का कोई चिह्न न था बल्कि बिल्कुल शान्त और गम्भीर था।

मुनि धीरे से बोले, "बहुत ठीक। मैं यह देख कर बहुत प्रसन्न हूँ कि तुमने मेरी आज्ञा का पालन पूर्ण रूपेण किया। तुम्हारी उम्र लगभग समाप्त हो चुकी थी। अगर तुम्हारे आने में एक दिन का भी और विलम्ब हो जाता तो तुम अपनी आत्मा की प्राप्ति के बिना ही मर जाते। अब मैं तुम्हें अपने समान अमर बनाता हूँ।

बलदेव घुटने टेककर कृतज्ञता प्रगट करने लगा। अति प्रसन्नता के कारण उसके मुँह से शब्द न निकल रहे थे। इन्दु तो मारे खुशी के रो पड़ी। वह जानती थी कि बलदेव के प्रेम-मार्ग में अग्रसर होने में अब कोई सन्देह न था। उसके ज्ञान की तो उसे कुछ चिन्ता ही न थी।

पाठ ११

शिवाजी का शील, स्वभाव तथा योग्यता

वह्निस्तस्य जलायते जलनिधिः कुल्यायते तत्क्षणात्,
व्यालीमाल्यगुणायते विषरसः पीयूष वर्षायते।
मेरुः स्वल्पशिलायते मृगपतिः सद्यः कुरङ्गायते,
यस्याङ्केऽखिललोक वल्लभतां शीलं समुन्मीलति॥

भर्तृहरिः।

यद्यपि शिवाजी के उत्तम कार्यों और नियमों का वर्णन पढ़ने से शिवाजी के शील, स्वभाव और योग्यता का बहुत कुछ पता लग सकता है, तथापि इतिहास में यह एक ऐसा व्यक्ति है, जिसके विषय में अभी अनेक भ्रान्त कल्पनायें प्रचलित हैं। अतएव

शिवाजी के शील, स्वभाव तथा योग्यता का थोड़ा-बहुत विचार करना आवश्यक है।

सफलता प्राप्त करने के लिये लोकनायक को जिस गुण की सर्व प्रथम आवश्यकता है, वह है उसका शील। शील-रहित लोग धोखेबाज़ी से भले ही चार दिन धूम मचा लें, पर जीवन में उन्हें सफलता नहीं मिल सकती। किसी भी क्षेत्र में जाइये, सुन्दर शील ही सफलता की नींव दिखाई पड़ेगी। जब तक अनुयायी यह न जान ले कि जिसका आदेश हम मानते हैं वह दुर्गुणों से रहित है, तब तक वे निर्भय होकर विश्वास-पूर्वक उसका आदेश न मानेंगे। यदि उन्हें थोड़ी भी शङ्का हो कि हमारा नायक किसी प्रकार हमें धोखा देगा, तो वे भी उसी प्रकार उससे बर्त्ताव करेंगे। इसके लिये शिवाजी के प्रतिस्पर्धी औरङ्गज़ेब का ही उदाहरण पर्याप्त है कि उसे किसी प्रकार का व्यसन न था। हम पहिले बतला ही चुके हैं कि स्त्री, बालक, किसान, वृद्ध आदि निस्सहाय लोगों को किसी प्रकार का कष्ट देने की उसने सख़्त मनाही करदी थी। बड़ी सख़्ती के साथ इस नियम का पालन किया जाता था और इसे तोड़ने वाले को प्राण-दण्ड तक हो सकता था। एक दो बार उसके सरदारों ने मुसलमान स्त्रियों को पकड़ लिया और उन्हें उसके पास लेगये। शिवाजी ने लाने वालों को धिक्कार कर उन स्त्रियों को वस्त्र आदि देकर, सम्मान-पूर्वक उनके आत्मीय जनों के पास भेज दिया। शिवाजी के चरित्र की प्रशंसा उनके निन्दकों ने भी की है। मुसलमानी इतिहास-लेखक ख़ाफ़ीख़ाँ ने उसके शुद्ध चरित्र के लिये प्रशंसा के उद्‌गार निकाले हैं। आजकल भी जिन्होंने शिवाजी के विरुद्ध बहुत कुछ लिखा है उन्होंने स्वीकार किया है कि उसका व्यक्तिगत चरित्र बहुत ऊँचे दर्जे का था❀।

❀ अध्यापक यदुनाथ सरकार; 'शिवाजी एण्ड हिज़ टाइम्स'–पृष्ठ ४३६।

शिवाजी की धर्म-शीलता तथा अन्य गुण

यह तो सब मानते ही हैं कि शिवाजी अत्यन्त धर्मशील था; यहाँ तक कि उसने अपना राज्य रामदास स्वामी को प्रदान कर दिया था। इसीसे यह ज्ञात होता है कि स्वराज्योद्धार का कार्य उसने निःस्वार्थ भाव से किया। हिन्दू क्षेत्रों के दर्शनों के समय तथा रामदास स्वामी की भेंटों के समय उसने यह कई बार प्रकट किया कि मैं इन सांसारिक झगड़ों से दूर होकर धर्म-सिद्धि में लीन होना चाहता हूँ। ऐसे समय रामदास स्वामी तथा अन्य पुरुषों को शिवाजी को यह जतलाना पड़ा कि स्वराज्य-सिद्धि ही धर्म है। इतनी धार्मिकता रहने पर भी वह सर्व-धर्म-सहिष्णु था। इसके उदाहरण हम पहिले दे ही चुके हैं। शिवाजी का व्यक्तिगत जीवन बहुत सादा था और वह अपने शरीर के लिये आवश्यकता से अधिक खर्च कभी नहीं करता था। यदुनाथ सरकार को भी लिखना पड़ा है कि वह पितृ-भक्त पुत्र, प्रेम-पूर्ण पिता और सब स्त्रियों की ओर ध्यान देने वाला पति था। शिवाजी के स्वदेशाभिमान के उदाहरण पहिले आ ही चुके हैं। शिवाजी संकट से कभी न डरने वाला था। संकट के समय सदैव वह स्वयं आगे रहता था और स्वराज्य-स्थापन के बाद भी उसने अपना यह क्रम न छोड़ा। अफ़ज़लखाँ से त्रस्त रहने पर भी शिवाजी ही स्वयं उससे मिलने गया। शाइस्ताखाँ के महल में स्वयं शिवाजी ही आगे बढ़ा। रण में सदैव वह आगे ही रहता था। इसके उदाहरण हम पहिले बतला चुके हैं। सारांश शिवाजी में साहस की मात्रा बहुत अधिक थी। परन्तु इसका मतलब यह नहीं कि वह साहस-प्रिय था। चातुर्य का उपयोग करने पर ही वह साहस का उपयोग करता था। पर विशेषता यह थी कि साहस की आवश्यकता का समय आनेपर वह साहस दिखलाने से पीछे न हटता था। रामदास स्वामी जैसे निस्पृही और स्पष्ट-वक्ता पुरुष ने

शिवाजी को "यशस्वी, कीर्तिवान्, सामर्थ्यवान्, नीतिवान्, समझदार, आचारशील, विचारशील, दानशील, कर्मशील, सर्वज्ञ, सुशील, धर्म-मूर्ति, निश्चय का महामेरु अखंड निर्धारी, राजयोगी" कहा है; और साथ ही यह भी कहा है कि उसके गुण-महत्व की क्या तुलना हो सकती है।

यथेष्ट बुद्धि

इन गुणों के साथ उसमें एक आवश्यक गुण यथेष्ट बुद्धि का भी था। इस गुण का महत्व बड़ा भारी है और अनेक कार्यों में इसकी आवश्यकता होती है; कई बार तो इसी के बल पर सफलता मिलती है। बाबर, अकबर, औरङ्गज़ेब, शेरशाह आदि पुरुष इसी के बल पर सफल हुए। शिवाजी ने इनसे कहीं अधिक बुद्धिमत्ता दिखलाई है। शिवाजी के क़िलों की रचना, अष्ट-प्रधान मण्डल की व्यवस्था, सेना का संगठन, मुल्की व्यवस्था, और शासन के सामान्य नियम यह सभी उसकी बुद्धिमत्ता के परिणाम-स्वरूप दीख पड़ते हैं। अफ़ज़लखाँ से भेंट करने के प्रसंग पर अतुल साहस के सिवा उसने जो बुद्धिमत्ता और दूरदर्शिता दिखलाई वह प्रशंसा ही के योग्य है। इसी प्रकार शाइस्ताखाँ को पूना से जिस प्रकार भगा दिया उसमें भी उसकी बुद्धिमत्ता अच्छी तरह प्रकट होती है। आगरा जाने के पहिले राज्य का अच्छा बन्दोवस्त करना, वहाँ क़ैद में पड़ने पर उससे चुप-चाप चालाकी से छूट आना, चतुरता से सम्भाजी की रक्षा करना और मुग़ल-राज्य में से सुरक्षित लौट आना यह सब बातें उसकी प्रगाढ़ बुद्धिमत्ता की प्रदर्शक हैं।

लोकनायक में एक और बात की आवश्यकता होती है। उसे अपने कार्य्य की सफलता का पूर्ण विश्वास होना आवश्यक है। किसी भी उच्चकार्य्य को करने में निराशा बारबार सामने आती है।

यदि नेता को ही अपनी सफलता की आशा न हो तो अनुयाइयों को कहाँ से हो सकती है ? शिवाजी को अपने कार्य की सफलता का पूर्ण विश्वास था। उसे भी "बुज़ुर्ग" लोग कहा करते थे कि अभी तरुण है कुछ दिन के बाद सीधा हो जायगा, पर उसे निराशा छू तक न गई थी। उसने ऐसे बहुत ही कम काम किये कि जिनकी सफलता के विषय में उसे पूर्ण विश्वास न रहा हो। उसे पूर्ण विश्वास था कि मैं महाराष्ट्र को फिर से स्वतंत्र कर सकूँगा, और उसने यह स्वतंत्रता प्राप्त करके ही छोड़ी।

मनोमोहक वार्तालाप और उत्तम शरीर

शिवाजी का वार्तालाप इतना मनोमोहक होता था कि जिससे वह बोलता वही उसकी बात मान लेता था। अफ़ज़लखाँ के वकील की तथा औरङ्गज़ेब के सरदार मिर्ज़ा जयसिंह की बहुत कुछ यही हालत हुई। इस गुण के बल पर उसने कई लोगों को अपने पक्ष में शामिल कर लिया था। शिवाजी यद्यपि बहुत ऊँचा-पूरा मोटा-ताज़ा न था, तथापि वह यथेष्ट सुदृढ़ था। जिस किसी ने उसका चित्र देखा है, उसे यह मानना होगा कि यह रुआबदार पुरुष था। उसे अपने जीवन में बहुत बीमारियों से सामना न करना पड़ा। अन्त तक उसमें अपने कार्य के लिये आवश्यक बल तथा चपलता बनी रही।

सहायकों से बर्ताव

लोक-नायकों में एक गुण की और आवश्यकता होती है। उन्हें चाहिये कि वे अपने सब सहायकों को अपने समान ही समझें। इतिहास के पाठक यह जानते हैं कि बाबर की सफलता का एक प्रधान कारण उसका यही गुण था। शिवाजी के साथियों में दाजी नरसप्रभु, बाजी फासलकर, येसाजी कंक, तानाजी

मालसुरे, फिरंगोजी नरसाला, सम्भाजी कावजी, मानकाजी दहा-तोंडे, गोभाजी नाइक, नेताजी पालकर, सूर्याजी मालसुरे, हिरोजी फ़रज़न्द, देवजी गाढ़वे, मुरारबाजी प्रभु, बालाजी आवजी, चिटनीस, बाजीप्रभु देश-पाण्डे, आवाजी सोनदेव, प्रतापराव गूजर, मोरोपन्त पिंगले, रोघो बल्लाल अत्रे, अन्नाजी दत्तो, दत्ताजी गोपीनाथ, रावजी सोमनाथ, निराजी रावजी, बालाजी आवाजी आदि पुरुष मुख्य थे। इन लोगों ने शिवाजी के लिये अपने प्राण सदैव तैयार रक्खे थे और शिवाजी भी इन्हें उसी प्रकार चाहता था। इनमें से कुछ पुरुष समय-समय पर युद्ध में काम आये। उनकी मृत्यु पर शिवाजी ने सदैव अत्यन्त शोक प्रदर्शित किया। तानाजी मालसुरे की मृत्यु पर तो वह बालक के समान रोया। मृत-साथियों के सम्बन्धियों के पालन-पोषण का उसने सदैव उचित प्रबन्ध किया। जिन पुरुषों का उसने अपने काम के लिये उपयोग किया; उनको वह कर्मचारी नहीं किन्तु सहकारी समझता था। वे लोग उसके उच्च उद्देश्य को अच्छी तरह समझते-बूझते थे। और इसलिये वे सब सांसारिक लोभों को दूर कर उसके लिये तन-मन से प्रयत्न करते थे। ऐसे ही साथी मिलने के कारण शिवाजी को अपने उद्देश्य की सिद्धि में पूर्ण विश्वास था और वह उसे सिद्ध कर सका।

शिवाजी और रामदास स्वामी

जिन-जिन लोगों ने शिवाजी को उसके कार्य में सहायता की, उनमें श्री समर्थ रामदास स्वामी की भी गणना होती है। परन्तु यह प्रश्न अभी तक विवादास्पद ही है कि रामदास स्वामी ने शिवाजी की कितनी और किस प्रकार की सहायता पहुँचाई। कुछ लोग ऐसा समझते हैं कि शिवाजी को रामदास स्वामी ने ही इस कार्य में प्रवृत्त किया। कुछ यह कहते हैं कि स्वराज्य-स्थापना

के कार्य में रामदास स्वामी का कुछ भी हाथ न था। हमारी समझ में दोनों पक्ष भूल में हैं। ऐतिहासिक कागज़ पत्रों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सन् १६५८ तक रामदास स्वामी और शिवाजी की भेंट न हुई थी ❀।

इसलिये यह कहना कि रामदास स्वामी ने शिवाजी को इस कार्य में प्रवृत्त किया; नितान्त अनैतिहासिक जान पड़ता है। इस साधु पुरुष के ग्रन्थों और अन्य रचनाओं से यह तो स्पष्ट जान पड़ता है कि रामदास स्वामी के हृदय में मुसलमानों के शासन के विरुद्ध भावनायें उत्पन्न हो गई थीं और असम्भवत: उन्होंने उनका जनता में प्रचार भी किया। शिवाजी के उद्योग को समझने की बुद्धि उनमें यथेष्ठ थी और उन्होंने अपनी यात्राओं में लोकमत जागृत करके जनता को शिवाजी के कार्य का महत्व समझा भी दिया। शिवाजी से परिचय होने पर वह उसे, उसके कार्य्य में, उत्तेजना देते रहे। हमारी समझ में इससे अधिक कार्य्य स्वराज्य-स्थापन के लिये रामदास स्वामी ने नहीं किया। रामदास स्वामी का कार्य प्रत्यक्ष न था, न वह सिपाही एकत्र करते थे और न लड़ने की शिक्षा किसी को देते थे। उनका कार्य अप्रत्यक्ष था। वह लोगों की नीति सुधारते, सच्चे धर्म की कल्पना करा देते और यह छाप डालते जाते थे कि धर्म का उद्धार स्वराज्य के बिना न होगा। स्वामीजी के कार्य का महत्व यही है और इसी नाते से शिवाजी का

❀ महाराष्ट्र-इतिहास मञ्जरी; पृष्ठ १४। तथापि धुलिया श्री शङ्कर, श्री कृष्णदेव का मत है कि इन दो पुरुषों की भेंट सन् १६४९ में हो चुकी थी और रामदास स्वामी ने शिवाजी को उसके कार्य में प्रत्यक्ष सहायता दी। इसी बात का प्रतिपादन श्री अनन्तदास रामदासी ने भी किया है। (श्रीसमर्थांचा गाथा)।

और उनका सम्बन्ध रहा, अन्यथा वह निरीच्छ थे और अपना समय ईश-सेवा में बिताया करते थे❀।

शिवाजी का उद्देश्य

शिवाजी के कार्य के विषय में एक प्रश्न विचारणीय है। शिवाजी का उद्‌देश्य क्या था? क्या वह केवल महाराष्ट्र में स्वराज्य की स्थापना करना चाहता था, अथवा सारे हिन्दुस्तान में हिन्दू-साम्राज्य जमाना चाहता था? इस प्रश्न के विषय में दो मत हैं।

❀ शिवाजी के "भगवाझण्डा" (गेरुवाझण्डा) का भी सम्बन्ध रामदास स्वामी से माना जाता है। उसकी कथा यों है। एकबार शिवाजी सतारा में थे। कृष्ण और येना के संग में माहुली नामक स्थान पर रामदास स्वामी उस समय रहते थे। माहुली के पूर्व की ओर जरण्डा नामक पर्वत पर स्वामी जी भिक्षा माँगने गये। उसी समय शिवाजी वहाँ आये थे। स्वामीजी ने उनके दरवाजे पर भिक्षा माँगी। शिवाजी ने एक काग़ज़ पर कुछ लिखकर स्वामीजी की झोली में उसे डाल दिया। स्वामीजी ने जब उसे पढ़ा तो ज्ञात हुआ कि शिवाजी ने तो अपना समस्त राज्य दे दिया है? स्वामीजी ने उसे स्वीकार करने जैसा भाव दिखलाया और इसलिये शिवाजी दिन भर उनकी सेवा में बना रहा। सन्ध्या समय रामदास स्वामी ने उससे पूछा कि राज्य-कार्य की तुलना में यह सेवा-कार्य कैसा लगता है? शिवाजी ने उत्तर दिया कि मैं पद की कोई परवाह नहीं करता। गुरु महाराज के पास रहने को मिले तो मैं सुखी हूँ। रामदास स्वामी ने तब वह राजदान वापिस कर दिया और कहा कि—"अपना राज्य वापिस ले लो, राज्य करना राजाओं का काम है, ब्राह्मणों का काम ईश-सेवा करना है।" तथापि शिवाजी के बहुत आग्रह करने पर रामदास स्वामी ने अपनी पादुकायें दे दीं और तब से शिवाजी ने उनके प्रतिनिधि के नाते राज-कार्य किया। इस समय से शिवाजी ने अपना झण्डा "भगवा" (गेरूवा) बनाया। इस कथा में थोड़ा बहुत हेर-फेर भी कहीं-कहीं दीख पड़ता है।

एक पक्ष का कहना है कि शिवाजी का उद्देश्य सारे भारतवर्ष में हिन्दू साम्राज्य स्थापित करने का था। इस पक्ष के समर्थन में शिवाजी का कोई पत्र अबतक नहीं मिला है। इसलिये इस पक्ष को केवल तर्क का आधार ढूँढ़ना पड़ा है। उनकी आधारात्मक बातें यह हैं—(१) शिवाजी ने छत्रपति की पदवी धारण की और राज्याभिषेक-शक शुरू किया, यह केवल छोटे से महाराष्ट्र का राजा बनने के लिये नहीं किन्तु सारे भारतवर्ष में हिन्दू-साम्राज्य स्थापित करने के विचार से ही ऐसा किया। (२) यदि केवल महाराष्ट्र की सीमा के भीतर उसे अपना राज्य स्थापित करना होता तो शिवाजी ने अपने भाई व्यंकोजी से झगड़ा न किया होता। वह भी फिर महाराष्ट्र में अपना राज्य स्थापित करके चुपचाप बना रहता। (३) चौथ और सरदेशमुखी वसूल करने की पद्धति में शिवाजी का विशिष्ट हेतु दीख पड़ता है। वह यह है कि इस हक़ के आधार पर मराठों को चाहे जिधर, चाहे जितनी दूर तक, फैलाने का मौका मिले। (४) जयसिंह से सुलह करके दिल्ली के जाने में उसका कुछ विशिष्ट हेतु था। सम्भवतः वह यह देखना चाहता था कि उत्तर हिन्दुस्तान के राजपूत राजा हिन्दू-साम्राज्य की स्थापना में कहाँ तक मेरे सहायक होंगे। (५) शिवाजी ने समुद्री किनारे को अपने क़ब्जे में रखने के विचार से सिद्दी को हराने के लिये बहुत प्रयत्न किया। यदि उसका हेतु महाराष्ट्र तक परिमित होता तो समुद्री किनारे को अपने क़ब्जे में करके अङ्गरेज़, पोर्तगीज़ वग़ैरः विदेशी लोगों को दबाव में रखने का प्रयत्न उसने न किया होता। (६) शिवाजी के हिन्दू-साम्राज्य की कल्पना के कुछ अस्पष्ट उल्लेख बखरों में दीख पड़ते हैं। उदाहरणार्थ शिव-दिग्विजय में लिखा है कि दिल्ली जाकर वहाँ अधिकार चलाने का योग इस समय नहीं दीख पड़ता, क्योंकि औरङ्गजेब बादशाह अवतारी पुरुष है। इससे ऐसा जान पड़ता है कि शिवाजी का विचार दिल्ली में राज्य करने का

था, परन्तु वह यह जानता था कि औरंगजेब के जीते जी यह बात नहीं हो सकती॰ ।

इसी प्रकार श्रीसावरकर ने "हिन्दू पद पादशाही" नामक अपनी पुस्तक में शिवाजी के सन् १६४५ के एक पत्र के आधार पर उपर्युक्त कल्पना की स्थापना करने का प्रयत्न किया है। उसमें "हिन्दवी स्वराज्य" शब्द आये हैं । इनके आधार पर आप कहते हैं—कि शिवाजी सारे भारतवर्ष में हिन्दू-स्वराज्य स्थापित करना चाहता था। हमें तो उपर्युक्त प्रमाणों में कोई सार नहीं दीख पड़ता। उनमें से कुछ तो बिलकुल सारहीन हैं। चक्रवर्ती, छत्रपति अथवा बादशाह कहला लेना उस काल में एक साधारण बात थी। यदि छोटी-छोटी जागीरों के शासक राजा कहला सकते थे तो महाराष्ट्र का शासक छत्रपति की पदवी अवश्य धारण कर सकता था। व्यंकोजी से लड़ने का उद्देश्य भी यह नहीं था। शिवाजी चाहता था कि मेरा भाई अपने को मुसलमानों का नौकर न कहलावे। सरदेशमुखी और चौथ वसूल करने में भी प्रधानतया द्रव्य प्राप्ति का ही उद्देश्य था। हाँ, इतना और अधिक कह सकते हैं कि वह यह चाहता था कि अपने पड़ोस के प्रदेश दूसरे न लेने पावें। दिल्ली जाने में उसका उद्देश्य यदि कुछ हो सकता है तो केवल यही कि मुग़ल-साम्राज्य का बल ज्ञात हो जाय। समुद्री किनारे को अपने अधिकार में रखना उसके लिये आवश्यक था, क्योंकि कोंकण में उसका राज्य स्थापित हो चुका था। बखरों के उल्लेखों पर कुछ भी ज़ोर देना ठीक न होगा, क्योंकि उनमें से कोई भी शिवाजी के समय में नहीं लिखी गई। स्वयम् सर देसाईजी को अपनी पुस्तक में कई स्थानों पर यह कहना पड़ा है कि इन बखरों का

॰ श्री गो॰ स॰ सर देसाई की 'मराठी रियासत'; पृष्ठ ३६४—६६ ।

उपयोग समझ बूझ कर ही करना चाहिये। इतिहास और मनुष्य स्वभाव के आधार पर यही कहा जा सकता है कि शिवाजी का उद्देश्य केवल महाराष्ट्र में स्वराज्य स्थापित करने का था। शिवाजी की मृत्यु के बाद रामदास स्वामी ने सम्भाजी को जो उपदेशात्मक पत्र लिखा है, उसमें यही बतलाया है कि सब मराठों को एक करो और महाराष्ट्र-धर्म❀ बढ़ाओ। इन शब्दों में महाराष्ट्र की परिमित कल्पना स्पष्ट दीख पड़ती है। "हिन्दवीस्वराज्य" शब्दों के विषय में हमें यह कहना है कि ये शब्द उस समय लिखे गये थे, जब शिवाजी १५ वर्ष का था। उस समय उसकी दृष्टि में आदिलशाही और कुतुबशाही के राज्य दीख पड़ते थे। इन्हीं की तुलना में उसने अपने भावी राज्य को हिन्दू राज्य कहा है। जब एक छोटा-सा स्वतन्त्र हिन्दू-राज्य भी न हो, तब अखिल भारतीय स्वतंत्र हिन्दू-साम्राज्य की कल्पना मन में आना मनुष्य-स्वभाव के विरुद्ध जान पड़ता है।

शिवाजी के लोकोपयोगी कार्य

शिवाजी का सारा जीवन लड़ने में बीता, तथापि ऐसे समय में भी उसने थोड़े बहुत लोकोपयोगी काम किये। हम यह बतला ही चुके हैं कि राज्याभिषेक के समय शिवाजी ने राजकीय पत्र-व्यवहार के फ़ारसी शब्दों के लिये संस्कृत शब्दों का उपयोग शुरू किया और इसके लिये उसने राज-व्यवहार-कोष रघुनाथ पण्डित से बनवाया। इसके अलावा करण-कौस्तुभ, शिव-भारत और शिवार्कोदय नामक तीन ग्रन्थ और बनवाये।

करण-कौस्तुभ ज्योतिष ग्रन्थ है। शिव-भारत में शिवाजी का जीवन चरित्र वर्णित है। शिवार्कोदय में "श्लोक वार्तिक" टीका

❀ "मराठा तितका मिलवावा—महाराष्ट्र-धर्म बाढ़वावा।"

पर गागा भट्ट ने श्लोकबद्ध टीका की है। श्लोकवार्तिक जैमिनी के पूर्व मीमांसा-ग्रन्थ की टीका है। इस प्रकार लोकाचार को ठीक-ठीक मार्ग दिखलाने के लिये शिवाजी ने भी कुछ प्रयत्न किया। फ़ारसी शब्दों के बदले संस्कृत शब्दों के उपयोग का भाषा तथा साहित्य पर स्थायी परिणाम हुआ। मुसलमानी राज्य स्थापित होने पर शिवाजी के समय तक व्यवहार भाषा में फ़ारसी शब्दों का बहुत अधिक उपयोग होने लगा था। शिवाजी के परिवर्तन से धीरे-धीरे मराठी और संस्कृत शब्दों का उपयोग अधिक होने लगा और ग्रन्थ-रचना भी अधिक हुई। विद्वानों का उचित मान करने की रीति शिवाजी ने ही जारी की और इससे धीरे-धीरे विद्या पढ़ी। इसी रीति को आगे चल कर पेशवाओं ने भी जारी रक्खा। शिवाजी की राज्य-स्थापना से इतिहास का सर्व सामान्य सिद्धान्त सिद्ध होता है। कि स्वराज्य विना किसी प्रकार की उन्नति नहीं हो सकती। स्वराज्य स्थापित होने पर ही भाषा और साहित्य, आचार और विचार, धन और बल में उन्नति होना शक्य है।

शिवाजी के समय में शुद्धि कार्य

शिवाजी के समय में एक बड़ा भारी लोकोपयोगी काम हुआ। आदिलशाही का एक सरदार फलटण का बजाजी नायक निम्बालकर, आदिलशाही के दवाब और धमकी के कारण मुसलमान हो गया था। जीजीबाई ने लोगों की सम्मति से उसे फिर से हिन्दू धर्म में ले लिया। इस निम्बालकर घराने से शिवाजी का पुराना सम्बन्ध था। इस शुद्धि पर लोग कुछ आक्षेप न करें, इसके लिये शिवाजी की लड़की सखूबाई बजाजी के बड़े लड़के महादाजी को ब्याह दी गई। बजाजी नायक का मुसलमान होना आपद्धर्म समझा गया था और शास्त्रों के आधार पर ही वह फिर से हिन्दू

धर्म में ले लिया गया। इसके बाद इसी प्रकार के कुछ और उदाहरण इतिहास में हुए। इससे यह देख पड़ता है कि जीजीबाई और शिवाजी ने शुद्धि की प्रथा का आरम्भ बहुत पहिले कर दिया था।

हिन्दुस्तान के इतिहास में शिवाजी का स्थान

शिवाजी का इतिहास समाप्त करने के पहिले हमें यह अच्छी तरह जान लेना चाहिये कि हिन्दुस्तान के इतिहास में शिवाजी का क्या स्थान है ? हम यह प्रारम्भ में ही बतला चुके हैं कि कई प्रकार की अनुकूल स्थिति ने शिवाजी के कार्य को सम्भव किया। इसी को ऐसा कह सकते हैं कि अनुकूल स्थिति ने शिवाजी को जन्म दिया। यानी यदि स्थिति अनुकूल न होती तो शिवाजी जैसा पुरुष उस समय न हुआ होता। इतिहासवेत्ता यह जानते ही हैं कि बिना अनुकूल स्थिति के कोई भी महापुरुष नहीं पैदा होता, परन्तु इसी में महापुरुष अपना कार्य कर दिखाते हैं। उनकी विशेषता यह रहती है कि वे अपने काल के प्रतिनिधि होते हैं। यही बात शिवाजी के विषय में चरितार्थ होती है। उस काल के लोगों की जो इच्छा थी, वही उसकी इच्छा थी। उस काल के लोगों का जो ध्येय था, वही उसका ध्येय था। उस काल के लोगों की जो महत्त्वाकांक्षा थी, वही उसकी महत्त्वाकांक्षा थी। उस काल के लोगों का जो सुख-दुःख था, वही उसका सुख-दुःख था। उस काल के लोगों की जो स्फूर्ति थी, वही उसकी स्फूर्ति थी।

सारांश वह अपने काल का पूर्ण प्रतिनिधि था। साथ ही इसके वह अपने काल को पहचान सकता था। उसे मालूम था कि इस कार्य में लोग मेरा साथ देंगे और उनका उपयोग करना मेरा कर्त्तव्य है। उसे आन्तरिक स्फूर्ति हो गई थी कि परमेश्वर ने मुझे दुनियाँ में इसी कार्य के लिये भेजा है। उसे विश्वास होगया

था कि ईश्वर मुझे सफलता देगा। शिवाजी का व्यक्तित्व समझने के लिये हम अपने से एक प्रश्न कर सकते हैं। उस परिस्थिति में रहने वाले लाखों लोग थे, पर शिवाजी ही को क्यों स्वराज्य-स्थापना की स्फूर्ति हुई ? मारटिन लूथर के समय पोप के घृणित कृत्यों को देखने और समझने वाले लाखों थे, पर विटेनवर्ग के चर्च पर लेख लिख कर चिपकाने की स्फूर्ति और हिम्मत इसी महापुरुष को क्यों हुई ? इस प्रश्न के उत्तर में यदि आप कुछ कह सकते हैं, तो यही कहेंगे कि परिस्थिति का महत्त्व तो है ही, पर उसका उपयोग करने का महत्त्व व्यक्ति को है। यही उत्तर शिवाजी के लिये भी उपयुक्त है। उसके समय में स्वतंत्रता की पुकार पैदा हो गई थी। पर लोक-शक्ति बिखरी हुई थी और कभी-कभी तो मराठे लोग आपस ही में मार-काट किया करते थे।

शिवाजी ने इस बिखरी हुई शक्ति को एकत्र किया और स्वतन्त्रता की जो ध्वनि यहाँ वहाँ सुनाई देती थी उसे उसने उसका मूल-मन्त्र बना दिया। उसने महाराष्ट्र की शक्ति पैदा नहीं की वह तो वहाँ पहले ही थी। उसका परिणाम यहाँ वहाँ अलग-अलग दीख पड़ता था। शिवाजी ने उस शक्ति का सम्मिलन करके उसका एक निश्चय ध्येय बना दिया। यही उसकी महाराष्ट्र के लिये वास्तविक सेवा हुई और इसी बात के लिये हमें उसे श्रेय देना चाहिये। एक बार लोकनायक बन जाने पर लोग उसी की ओर सहायता और उद्धार के लिये देखा करते थे। इसके कई उदाहरण हैं। इसमें से सावनूर का उदाहरण ध्यान में रखने लायक़ है। जब सावनूर के लोग मुसलमानों का अत्याचार अधिक न सह सके तब उन्होंने शिवाजी को पत्र लिखा और उसे अपने उद्धार के लिये आमन्त्रित किया। उसमें उन्होंने उसे स्पष्टतया हिन्दू-धर्म का प्रतिपालक और उद्धारक कहा है। जिन्हें शिवाजी के देशोद्धारक होने के विषय में शंका हो, उन्हें उपर्युक्त पत्र

अवश्य अच्छी तरह पढ़ना चाहिये। शिवाजी के देशोद्धारक होने की बात कई मामूली प्रमाणों से भी सिद्ध हो सकती है। हम प्रश्न कर सकते हैं कि किस साँसारिक लाभ के लिये शिवाजी के सहकारियों ने उसके कहने पर अपने प्राण खतरे में डाले और उनमें से कई ने आत्म-यज्ञ भी किया? उसका नाम लेते ही लोगों में क्यों जोश पैदा हो जाता था और वही जोश उसकी मृत्यु के बाद भी कई वर्ष तक क्यों बना रहा? उसके जीते जी ही लोग उसे विष्णु का और उसके मरने के बाद शिव का अवतार क्यों समझने लगे? आजदिन तक महाराष्ट्र में घर-घर उसके नाम की पूजा क्यों होती है? सार यह है कि महाराष्ट्र स्वातंत्र्य-सिद्धि के कार्य से उसने जिन लोगों के स्वार्थ-सिद्धि में बाधा उपस्थित की उन लोगों का कथन बहुताँश में शिवाजी के विरुद्ध ही रहेगा। इसलिये महाराष्ट्रीय हुए बग़ैर कम से कम हिन्दू हुए बिना तो शिवाजी का महत्त्व किसी की समझ में नहीं आ सकता। यदुनाथ सरकार जैसे छिद्रान्वेषी पुरुष को भी अपनी पुस्तक के अन्त में शिवाजी के महत्व का गायन करना पड़ा है। आपने वहाँ जो कुछ कहा है, उसे हम यहाँ ज्यों का त्यों दिये देते हैं—

यदुनाथ सरकार का मत

शिवाजी का वास्तविक महत्त्व उसकी कल्पना में अथवा राजकीय दूरदर्शिता में नहीं है, किन्तु उसके शील और कार्य-क्षमता में है। दूसरों को अच्छी तरह समझ लेना, उचित प्रबन्ध कर लेना और किसी भी परिस्थिति में अन्तः स्फूर्ति से यह जान लेना कि क्या सम्भव है और क्या लाभदायक है, यही उसके जीवन की सफलता के कारण थे। इनके साथ-साथ हमें उसकी व्यक्तिगत, नीतिमत्ता और आदर्श की उच्चता को भी मद्देनजर रखना चाहिये। क्योंकि इन्हीं के कारण अच्छे-अच्छे लोगों ने भी

उसका साथ दिया। उसकी सर्व सहिष्णुता और न्यायपरता के कारण उसके राज्य का कोई भी पुरुष असन्तुष्ट नहीं हुआ। उसने बहुत परिश्रम से अच्छी व्यवस्था स्थापित की और अपने राज्य में नैतिक नियमों का पालन अच्छी तरह करवाया। इसलिये लोग अन्य स्थानों की अपेक्षा उसके यहाँ अधिक सुखी थे। उसकी बड़ी-बड़ी विजयों को देखकर लोगों को बहुत खुशी हुई और उनकी हिम्मत बढ़ी, और उसका नाम मराठों के लिये नव-जीवन का मूलमंत्र होगया। उसकी मृत्यु के नौ वर्ष के भीतर ही उसका राज्य नष्ट होगया। परन्तु मराठों का उसने जो एक राष्ट्र बना डाला, वह उसका अविनाशी कार्य था; और लोगों में जो उसने जोश भर दिया, वह लोगों का अमूल्य धन था। "यह सच है कि दक्षिण के तीन मुसलमानी राज्यों के आपसी झगड़ों से तथा उनकी भीतरी कमज़ोरियों से शिवाजी को सिर उठाने का मौक़ा मिला, परन्तु उसकी सफलता का कारण शत्रुओं की कमज़ोरी नहीं किंतु उच्च आदर्श है।" मैं उसे हिन्दुओं का अन्तिम प्रतिभाशाली पुरुष और राष्ट्र संवर्धक मानता हूँ।

उसकी शासन-व्यवस्था उसकी निजी वस्तु थी और जिस प्रकार रणजीतसिंह ने अपने शासन में बाहरी सहायता ली उस प्रकार शिवाजी ने नहीं ली। उसकी सेना ने अपने ही लोगों से शिक्षा पाई और वे ही लोग उसके संचालक रहे। रणजीतसिंह के समान फ्रेंच अथवा अन्य विदेशी लोगों को उसने नहीं बुलाया। उसने जो कुछ रचा और बनाया, वह बहुत दिनों तक चलता रहा। पेशवाई के परम समृद्ध काल से भी उसकी शासन-व्यवस्था की प्रशंसा होती रही। "शिवाजी पढ़ा-लिखा न था।" उसने पुस्तकों से कुछ न सीखा❀।

❀ इस बात को हम अन्यत्र ग़लत सिद्ध कर चुके हैं।

कोई शाही दरबार, सभ्य नगर अथवा सुव्यवस्थित सेना देखने के पहले ही उसने राज्य और शासन-व्यवस्था की स्थापना की थी। किसी अनुभवी मंत्री या सेनापति से उसे किसी प्रकार की सहायता अथवा मंत्रणा नहीं मिली। उसकी प्रतिभा ही कुछ ऐसी थी कि बिना किसी सहायता के अकेले उसने सुव्यवस्थित राज्य, अजेय सेना और विशाल तथा लोकोपकारी शासन-व्यवस्था की स्थापना की। "उसके पहिले मराठे लोग दक्षिण के राज्यों में तितर-बितर फैले हुए थे। उसने उनका एक शक्तिशाली राष्ट्र बना दिया और यह सब उसने उस समय किया जब मुग़ल बादशाहत, बीजापुर की आदिलशाही, पोर्त्तगीज़ राष्ट्र और जंजीरा के सिद्धी जैसी चार प्रचण्ड बलशालिनी शक्तियाँ उसका घोरतम विरोध कर रही थीं। आधुनिक काल में अन्य किसी हिन्दू ने यह योग्यता नहीं दिखाई। बखरकारों ने शिवाजी की भौतिक सम्पत्ति यानी, हाथी, घोड़े, सिपाही, नौकर, जवाहिर, सोना, चाँदी, आदि का भरपूर लेखा दिया है। परन्तु शिवाजी ने भावी पीढ़ी के लिये महाराष्ट्र का नव जीवन-रूपी अमूल्य धन बना रक्खा, उसका उन्होंने उल्लेख नहीं किया।" उसके पहिले मराठे लोग केवल किराये के टट्टू अथवा विदेशियों के बन्दे गुलाम थे। राज्य का कारबार तो चलाते, परन्तु उसकी व्यवस्था में उनका कुछ भी हाथ न था। सैनिक बनकर वे अपना रक्तपात तो करते, परन्तु युद्ध अथवा संधि की बातों में वे कुछ न बोल सकते थे। वे सदैव मातहती का काम करते रहे। कभी अगुआ न बने। शिवाजी ही पहिला पुरुष था कि जिसने दिल्ली की बादशाही और बीजापुर की आदिलशाही को चिनौती दी और इस प्रकार अपने लोगों को सिखाया कि चाहो तो तुम भी युद्ध का कार्य स्वतंत्र रूप से कर सकते हो। फिर उसने स्वराज्य स्थापित किया और इस प्रकार अपने लोगों को यह बतला दिया कि राज्य के भिन्न-भिन्न विभागों के शासन की योग्यता तुममें

भी है। उसने अपने उदाहरण से यह सिद्ध कर दिया है कि हिन्दू भी राष्ट्र की रचना और राज्य की स्थापना कर सकते हैं, शत्रुओं को हरा सकते हैं, अपनी निजी रक्षा कर सकते हैं, साहित्य और कला, व्यापार और उद्योग धन्धे की उन्नति कर सकते हैं। अपने निजी जंगी और व्यापारी बेड़े बनाकर उनका संचालन कर सकते हैं और विदेशियों से भी बराबरी की समुद्री लड़ाइयाँ लड़ सकते हैं। सारांश उसने हिन्दुओं को अपना परम उत्कर्ष करना सिखा दिया। उसने यह सिद्ध कर दिया है कि हिन्दू-जाति केवल जमाइतदार और चिटनीस ही नहीं वरन् जनपति और छत्रपति पैदा कर सकती है। जहाँगीर बादशाह ने प्रयाग के अक्षय वट को बिल्कुल जड़ तक कटवा डाला और उसकी ठूँठ पर पिघला हुआ लाल-लाल लोहा डलवा दिया। इससे वह समझ बैठा कि मैंने उसे नष्ट कर डाला। परन्तु एक ही वर्ष के भीतर उसने अपनी बाढ़ फिर से शुरू की और बाढ़ की विघ्न-बाधाओं को एक ओर ढकेल दिया। "शिवाजी ने यह सिद्ध कर दिया है कि हिन्दुत्व का वृक्ष अभी मरा नहीं है। वह अब भी सदियों की राजकीय दासता, शासन की अनुभव हीनता और बाक़ायदा अत्याचार के भार से दबा रहने पर भी ऊपर उठ सकता है। नवीन शाखायें और पत्ते पैदा कर वह भी आकाश में अपना सिर उठा सकता है॰।"

पाठ १२

उत्सर्ग

(१)

सारा गाँव एक स्वर में चिल्ला उठा कि, कलावती विष-कन्या है; पिशाचिनी है; राक्षसिनी है। पूर्व जन्म की भयङ्कर पापिनि

॰ अध्यापक यदुनाथ सरकार कृत 'शिवाजी एण्ड हिज़ टाइम्स;' पृष्ठ ४४०—४४४।

है, उसके देखने मात्र से पाप लगता है। उसकी छाँह पड़ने से शरीर अपवित्र होजाता है, उसका बोल सुनने से अपशकुन होता है। युवती-मण्डल उसे देखते ही, किसी भावी अमङ्गल की आशङ्का से उद्विग्न होकर उसके निवारण के लिये देवता का प्रसाद चढ़ाने का सङ्कल्प करती; वृद्ध-समाज उसे देखकर उसके पूर्व कृत पापों के लिये उसे धिक्कारता। गाँव के उत्सव उसके लिये मरण-समारोह हो गये, तीज का त्यौहार उसके लिये रुदन-दिन होगया। पर कलावती छाती पर बज्र बाँध कर सब सहने लगी। उसने किसी से कुछ नहीं कहा, किसी के मर्म-भेदी व्यंग्य को सुनकर उसने उसे कोई प्रत्युत्तर नहीं दिया। वह अपने मन में ही कुढ़-कुढ़ कर अपना व्यथामय जीवन व्यतीत करने लगी। उसका एक प्रधान उद्देश्य था और वह उसी उद्देश्य की पूर्त्ति में तन, मन, प्राण से लग गई। अपने पतिदेव की अन्तिम आज्ञा का पूर्ण रूप से पालन करने के लिये ही वह विश्व के व्यंग्य बाण अपने कोमल वक्षस्थल पर निर्विकार होकर सहती रही। मुँह से उसने किसी के सामने आह तक नहीं निकाली।

प्रथम सौभाग्य-रात्रि के अवसान के साथ-साथ ही उसका सौभाग्य-चन्द्र भी सदा के लिये अस्त होगया था। जिस कुक्षण में वह अपने पिता के यहाँ से अपने परमाराध्य पति के पवित्र घर में आई थी, उसके दूसरे ही दिन उसके हिम-शुभ्र ललाट का सिन्दूर दैव के कठोर विधान से पुँछ गया। प्रथम रात्रि के शुभ मिलन के उपरान्त, ज्योंही प्रातःकाल के समय उसके आराध्य-देव विलास-मय कक्ष से बाहर आये त्योंही उनकी तबियत घबड़ाने लगी। गर्मी के दिन थे, पहिले तो कला ने समझा कि, वह गर्मी से उत्पन्न होने वाली साधारण-सी व्याकुलता मात्र थी, पर जैसे-जैसे दिन चढ़ता गया, तैसे-तैसे वह साधारण-सी व्याकुलता असाधारण वेश धारण करती गई और देखते-देखते वह विभीषिकामयी

विशूचिका में परिणित होगई और सायङ्काल होते-होते वे इस नश्वर धरा-धाम को छोड़ कर अक्षय स्वर्ग को चले गये। जिसने पहिली रात्रि को पति के पर्यङ्क पर आनन्द से उन्मादिनी होकर अपने परमाराध्य परमेश्वर के प्रणय-पूर्ण वक्ष-स्थल का शीतल विलासमय आलिङ्गन प्राप्त किया था, वही नूतन वधू दूसरी रात्रि के आते-आते बारह घण्टे बीतने के पहिले ही अपने प्राणेश्वर के मृत-शव के पूज्य पाद-पद्म में पतित होकर हाहाकार करने लगी। हा! दैव का कैसा कठोर, कैसा निर्मम, कैसा भयंकर विधान है!

यही कारण था कि, सारा गाँव कला को विष-कन्या कहने लग गया था। संसार की गति ऐसी ही है कि वह दारुण दुःख में सहानुभूति दिखाना तो दूर और उल्टे उसे पूर्व जन्म के पापों का अवश्यम्भावी परिणाम कह कर घृणा करने लगता है। यह विश्व व्यथा को देखकर आँखों में आँसू भर लाना तो दूर, प्रत्युत मरते हुए के मुख पर दो लातें और मारना जानता है। यही कारण था कि, सारा गाँव का गाँव, युवती, युवक, बाल, बनिता सब के सब कलावती के सिन्दूर पुँछ जाने पर उसके दुःख में रोये तो नहीं बल्कि उसके प्रति घृणा से भरा हुआ निर्दयता का व्यवहार करने लगे, बेचारी निस्सहाय, निर्बल विधवा इन सब दुर्वाक्यों को, दुर्व्यवहारों को चुपचाप घर के निभृत कोण में नीरव रुदन करके मध्य रात्रि के घन-घोर अन्धकार को अपनी वेदनामयी निःश्वास से कण्टकित करके एवं अपने हृदय के उत्थित हाहाकार को अपूर्व संयम से दमन करके, सहती रही।

वह समय की प्रतीक्षा करने लगी। वह एक प्रकार से कठोर तप में प्रविष्ट होगयी और वह उस दिन के आगमन की बड़ी साध से बाट देखने लगी, जिस दिन के लिये उसने अपने इस

व्यथित जीवन की रक्षा की थी। उसी दिन के लिये उसने अपने ललाट का उज्ज्वल सिन्दूर पुँछ जाने पर, उस पर तप्त अङ्गार रख लिया था। हाथों की चूड़ी तोड़ कर उनमें उसने व्यथा की बेड़ी डाल ली थी और अपने स्वर्ग-सदृश सदन को उसने कठोर कारागार में परिणत कर दिया था। कलावती बन्दी-जीवन व्यतीत करने लगी। छोड़ दिया उसने संसार के मोह को; तोड़ दिया उसने सम्बन्ध-समूह को; त्याग दिया उसने उल्लासमय उत्सव को; ठोकर मार दी उसने जीवन के ममतामय व्यापारों को!!

कठोर साधना—एकान्त तप—यदि सफल होती है तो कलावती उस सफलता से बञ्चित नहीं रह सकती।

(२)

कला के पूज्य पतिदेव का शुभ नाम था—विजयचन्द्र। उनका पैतृक गृह तो था महेन्द्रपुर नामक क़सबे में, पर वे रहते थे विशेषतया लखनऊ में, क्योंकि वे यहाँ इलाहाबाद बैङ्क की शाखा में नौकर थे। उनका वेतन था ८०) रुपया। इन ८०) रुपयों में उनका और उनकी पहिली पत्नी का निर्वाह बड़े आनन्द से हुआ चला जाता था। वे थे ज़रा ख़र्चीले स्वभाव के। जो मिलता, जो कमाते, सब का सब ही ख़र्च कर देते। न तो वे क़र्ज लेकर खर्च करते और न वे विचारशील गृहस्थ की भाँति संग्रह पर ही कुछ विशेष ध्यान देते। रोज़ कुआँ खोदना रोज़ पानी पी लेना। चरित्र के थे पक्के, स्वभाव के थे खरे और बचपन ही से व्यायाम के थे परम प्रेमी। आरोग्यता भी इसीलिये उन्हें भगवान ने पूर्णरूप से दी थी। न तो कभी उन्होंने तीव्र अनुभव किया किसी मानसिक ग्लानि का और न वे जर्जर हुए किसी भयंकर दैहिक व्याधि से। प्रेममयी सुशीला भार्य्या का अतुल, अक्षय, अखण्ड स्नेह पाकर वे आनन्द में मग्न होकर अपनी इहलोक की जीवन-यात्रा में निश्चिन्त

भाव से चल निकले थे। विवाह के सातवें वर्ष उनकी स्नेहशीला, सुशीला पत्नी ने उन्हें अपने प्रेम का उपहार स्वरूप एक पुत्ररत्न भेंट किया और वे उस कोमल शिशु को पाकर एकबार ही परमानन्द को प्राप्त होगये। इहलोक पहिले ही से आलोकमय था; परलोक के अन्धकार को दूर करने के लिये भगवती ने उन्हें एक अमूल्य प्रदीप दे दिया। दोनों लोक सुधर गये।

पर महामाया की रहस्यमयी इच्छा, दैव का निर्भय प्रकोप भावी का निष्ठुर प्राबाल्य, जब वह पुत्र लगभग २ वर्ष का होगया तब सहसा उसकी पुण्यमयी जननी को प्रलय-कल्प प्लेग ने भयंकर रूप से आक्रान्त कर लिया। डाक्टर और वैद्यों ने उसके जीवन से निराश होकर उत्तर दे दिया, धीरे-धीरे मृत्यु की प्रगाढ़ वीभत्स छाया ने, उस सुन्दर सती के तेजोमय मुख-मण्डल को आषाढ़ के कृष्ण मेघ-मण्डल से समाच्छादित चन्द्रमा की भाँति अन्धकारमय बना दिया।

प्रातःकाल का समय था। मन्द-मन्द वायु बह रही थी। नियम ही ऐसा है कि प्रातःकाल के समय प्रायः भयंकर से भी भयकर व्याधि कुछ न कुछ अंश में शान्त होजाती है; कम से कम व्याकुलता में तो अवश्य कमी होजाती है। विजयचन्द्र अपनी प्रेम-प्लाविनी पत्नी की रोगशय्या के पास बैठे हुए एक टक उसके पवित्र-कृष्ण छाया से आवृत बदन-मण्डल को देख रहे थे। निर्वाणोन्मुख-प्रदीप जिस भाँति अन्तिम बार प्राज्ज्वलित हो उठता है, उसी प्रकार उस महासती का पावन आनन भी सहसा तेजोमय हो उठा। धीरे-धीरे क्षीण स्वर में करुणा से सने हुए शब्दों में स्नेह से भरी हुई वाणी में वह बोली—"नाथ ! अब मैं जाती हूँ। इस अपने दो वर्ष के बच्चे को मैं तुम्हारे हाथों में सौंप जाती हूँ। पर तुम ठहरे पुरुष तुम्हें उसका लालन-पालन करना एक बार ही कठिन हो जायगा। इसलिये प्राणेश्वर ! तुम बहुत शीघ्र ही

विवाह कर लेना। स्त्री ही लालन-पालन करना जानती है। सच पूछो तो हमने संसार में अवतार ही इसलिये लिया है। तुम पुरुषों का न तो यह कार्य ही है और न तुम इसे सुचारु रूप में सम्पन्न ही कर सकते हो। इसीलिये मैं चाहती हूँ कि तुम शीघ्र ही दूसरा विवाह कर लेना, नहीं तो तुम्हें महाकष्ट होगा और बच्चा भी मातृस्नेह से बञ्चित रह जायगा।"

विजयचन्द्र ने बड़े दुःखपूर्ण स्वर में कहा—"न प्रिये! सो नहीं होगा, मैं स्वयं ही सब कुछ कर लूँगा। तुम्हारे इस निःस्वार्थ स्नेह का क्या यही समुचित प्रतिकार होगा कि तुम्हें इह-लोक से विदा करके मैं तुम्हारे उस काञ्चन पीठ पर दूसरी प्रतिमा को लाकर प्रस्थापित कर दूँ? न यह बड़ा निष्ठुर, निर्मम, स्वार्थमय, नीच कृत्य होगा। स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध ऐसा तुच्छ एवं सहन-छिन्न नहीं है। न न, मैं ऐसे धर्म-निषिद्ध पाप-मय कृत्य को न कर सकूँगा।"

उस महासती ने अनुनय पूर्वक कहा—"पर, मेरा कहना तो मानना ही पड़ेगा। मेरी यह अन्तिम विनय तुम्हें स्वीकार करनी ही होगी। मृत्यु के द्वार पर खड़े होकर अपने इस अन्तिम क्षण में मैं तुम्हारे पवित्र प्रेम के नाम पर, तुमसे हाथ पसार कर भिक्षा माँगती हूँ। तुम क्या मेरी इस अभिलाषा को—अन्तिम समय की इस आकुल विनय को अस्वीकार करके मुझे निराश कर दोगे प्यारे?"

उस महासती के स्निग्ध श्यामल लोचन में दो बिन्दु आँसू के झलक उठे।

विजयचन्द्र ने बड़ी व्यथित वाणी में कहा—"प्यारी! तुम नहीं जानतीं, तुम सरल हो, संसार को भी सरल ही जानती हो। विमाता आकर बच्चे को और भी कष्ट देगी।"

महासती ने विश्वास से भरे हुए शब्दों में कहा—"न मैं आशीर्वाद देती हूँ—अपने जन्म भर के पुण्य-पुञ्ज को साक्षी बनाकर तुम्हें विश्वास दिलाती हूँ कि, भगवती, राज-राजेश्वरी, कल्याण-सुन्दरी की असीम अनुकम्पा से तुम्हें ऐसी रमणी प्राप्त होगी, जो हमारे इस सरल शिशु को अपनी गर्भजात सन्तान से भी अधिक स्नेह करेगी, मुझसे भी अधिक तुम्हारी सेवा करेगी और नाथ! विश्वास करके मानो, तुम उसे पाकर कदापि पश्चात्ताप न करोगे। वचन दो, तुम मेरी इस प्रार्थना को स्वीकार करोगे। यदि तुमने इतने पर भी अस्वीकार कर दिया, तो नाथ, सत्य मानना, मेरे यह प्राण सदा आकुल भाव से इस घर के चारों ओर मँडराते फिरेंगे। प्राणेश्वर मेरे ऊपर दया करके मेरी इस अनुनय की रक्षा करो।"

विजयचन्द्र ने रोते-रोते कहा—"मुझे स्वीकार है।"

महासती के शुचि-स्वच्छ नयन-सन्तोष की आत्मा से उद्दीप्त हो गये। उसने उस सरल, हास्य-वदन शिशु का कोमल कपोल चूम लिया और उसे अपने जीवन-धन के कर-कमल में दे दिया। विजयचन्द्र की चरण-रज उठा कर उसने मस्तक पर लगा ली। इतना करके वह पवित्र तेजोमयी आत्मा अविनश्वर तुरीय धाम को अपने पवित्र तेज से समुद्भासित करने के लिये प्रस्थान कर गई।

सतीत्व-सूर्य की सुवर्ण-वर्ण-किरण-माला के प्रेममय स्पर्श से पुण्य-पद्म प्रस्फुटित होता है।

(३)

हमने प्रथम परिच्छेद में इस बात की सूचना दी थी कि कला ने किसी विशेष उद्देश्य को सन्मुख रख कर अपने ज्वालामय जीवन की गति के मार्ग को बदल दिया था। यद्यपि हम उसके

पूज्य प्राणेश्वर की अकाल मृत्यु का समाचार लिख चुके, पर, तो भी नीचे के दो परिच्छेदों में हम उस सम्बन्ध की घटनावली का उल्लेख करेंगे। उसके निवृत किये बिना, उसके उद्देश्य के मर्म एवं महत्व को पूर्ण रूप से हृदयङ्गम करना कठिन ही नहीं, असम्भव हो जायगा।

शिक्षा थी पर्य्याप्त, जीवन निर्वाह के साधन थे यथेष्ठ, शरीर था निरोग, देखने में सुन्दर और तिस पर भी थे प्रभाकर के अवस्थी। विवाह होने में क्या देर थी। शीघ्र ही पहिली स्त्री के मरने के चार महीने बाद ही—एटा ज़िले के एक श्री सम्पन्न डिप्टी कलेक्टर की सुन्दरी, सुशीला, सुशिक्षिता कन्या से उनका शुभ विवाह सम्पन्न हो गया।

इस कन्या का नाम था—कला। सोने में सुगन्ध की भाँति, इसमें सौन्दर्य और सुशिक्षा दोनों का पूर्णरूप से सम्मिश्रण था।

वह अपने परिवार की एक मात्र कन्या होने के कारण सबकी लाड़ली थी। उसके केवल एक छोटा भाई था—उसका नाम था विमल। एक कन्या और दूसरा पुत्र—दोनों माता-पिता के नयन रूप थे। वे दोनों उनकी आत्मा के प्रकाश थे। कला का बाल्य-जीवन बड़े आनन्द और पवित्रता के साथ व्यतीत हुआ था। उसके पिता ने उसका विवाह भी बड़े सुयोग्य वर के साथ किया था। पर दैव के अटल विधान को कौन मेट सकता है? दैव के जिस अवश्यम्भावी विधान से चन्द्रमा सहस्र-सहस्र तारिकाओं से मण्डलीभूत होकर भी राहु का कवल बन जाता है; भाग्य के जिस प्रबल प्रकोप से प्रसन्न वन-श्री की कोमल गोद में झूमने वाली सरल, कोमल गुलाब-कली, ग्रीष्म की प्रचण्ड वायु के भयङ्कर आघात से छिन्न-भिन्न होकर गिर पड़ती है, जिस ललाट-लिपि की अटल रेखा के प्रभाव से अमृत हलाहल में परिणत हो जाता है,

जो नियति की निश्चित गति मनुष्य का अज्ञेय प्रेरणा से आक्रान्त करके, हिमालय के सर्वोच्च शिखर पर ले जा कर, उसे सहसा, सोचने का समय न देकर, विचारने का अवसर न देकर, अन्धकारमयी कन्दरा में ढकेल देती है, उसे डिप्टी साहब कैसे लौट दे सकते थे? उस पर न तामील हो सकता था सम्मन, न कट सकता था वारण्ट, न दी जा सकती थी कठोर दण्ड की आज्ञा। वह तो समय के रूप में अक्षय, विधान के वेश में अमिट, भावी के स्वरूप में निश्चित एवं कर्म्म-फल के रूप में अटल होकर अपने कार्य्य में सतत रत रहता है। बाधा का भय नहीं; विरोध की आशङ्का नहीं; प्रतिरोध की चिन्ता नहीं। पाषाण-रेखा की भाँति उसके अटल विधान से डिप्टी साहब अपनी प्राणोपमा पुत्री की रक्षा न कर सके। विवाह के साथ ही साथ द्विरागमन की भी रीति पूरी करदी गई। स्वसुर-सास-विहीन घर में कला जब अपने छोटे भाई विमल को साथ लेकर आई, तब उसके पति ने सबसे पहिले अपने हृदय के प्रोज्ज्वल रत्न को—२॥ वर्ष के उस प्रफुल्ल शिशु-कमल को उसके कर-कमल में उपहार-स्वरूप अर्पण किया। कला ने हर्षोत्फुल्ल लोचनों से उसके मृदुल-कुसुम-हास्यमय मुख-चन्द्र को देखा। आनन्द से, प्रसन्नता से, बड़े प्यार से, उसने शिशु का कमल-कोमल मुख चूम लिया। पति को प्राप्त करते ही उसे परम प्रिय पुत्र की भी प्राप्ति हो गई। सरला कला आनन्दातिरेक से उन्मत्त हो गई। दिनभर वह उस शिशु को, परम मूल्यवान् रत्न की तरह, अपने वक्षःस्थल से लगाये रही और एक क्षण भर के लिये भी उसने उसे अपनी प्रेममयी गोद से नीचे नहीं उतारा। वह सरल शिशु एक ही दिन में उससे अत्यन्त स्नेह करने लगा। उस मातृ-विहीन बालक को मिल गई स्नेहमयी माँ और कला को मिल गया प्रेम-पात्र पुत्र। दोनों, शिशु और कला मानों खोई हुई सम्पत्ति को पाकर प्रफुल्ल हो गये।

धीरे-धीरे, सायंकाल का समय आ गया। धीरे-धीरे मन्द मातङ्गगति से, उसने पति के विलास-शोभी प्रकोष्ठ में प्रवेश किया। इस प्रथम प्रवेश की सुखमयी स्मृति को कोई रमणी विस्मृति नहीं कर सकती। आजन्म इस आनंद की पुण्य-पुराण प्रभा से उसका हृदय अक्षय प्रदीप की आलोक-माला से उद्दीप्त पुण्य-निकेतन की भाँति समुद्भासित रहता है। उस प्रथम मिलन का स्फटिक, स्वच्छ सुख पवित्र अक्षय स्मृति का सौन्दर्यमय स्वरूप धारण करके उसके जीवन को मधुर बनाये रखता है। उस प्रेम-प्रभा से प्रोज्ज्वल पर्यङ्क पर एक ओर थे पति परमेश्वर और दूसरी ओर निद्रित था सारल्य शोभी शिशु और मध्य में, उद्दीप्त दामिनी की भाँति, कान्त-कलेवरा कल्पना की भाँति, पुण्य-प्रतिमा पवित्रता की भाँति, स्थित थी सौभाग्य-सुन्दरी कला। एक ही दिन, एक ही समय में—उसने प्राप्त किया था पति के प्रेम-प्लावी वक्षस्थल का आनन्दमय आलिङ्गन एवं प्राणप्रिय स्नेह स्रावी सरल शिशु। सरला कला सौभाग्य-गर्विता होकर प्रफुल्ल गुलाब-श्री की भाँति शोभायमान हो गई।

पर प्रायः यह देखा जाता है कि, जब मनुष्य को पूर्णानन्द प्राप्त होता है, जब वह सौभाग्य की चरम सीमा पर पहुँच जाता है, जब हिमाचल के सुवर्णोज्ज्वल शिखर पर आरूढ़ हो जाता है, तभी उस पर सहसा बज्रपात होता है। वैसा ही हुआ—कलावती के पुण्य-ललाट पर सहसा बज्रपात हुआ। दूसरी रात्रि के आते ही आते वह दुर्भागिनी होकर भूतल पर लुण्ठित होने लगी। कैसा व्यथा पूर्ण दृश्य था; कल जो परम सौभाग्य के रत्न-जटित सुवर्ण-पीठ पर आसीन हुई थी, कल जिसने सब कुछ—पति-पुत्र-प्रेम पाया था, आज वह सहसा मेघ-गर्जन-शून्य बज्रपात से चूर्ण-विचूर्ण हो कर पतिदेव को खो बैठी। सहसा सुवर्णासन से स्खलित होकर भूतल पर पतित होगई। पतिदेव प्रस्थान कर

गये—पुत्र ही केवल उसकी सान्त्वना के लिये अवशिष्ट रह गया। उसका सरल हास्य ही उसका एकमात्र अवलम्ब रह गया।

यही देख कर शास्त्रकारों ने संसार को क्षणभंगुर और असार कहा है। कितने ही प्रासाद नित्य भग्न होते हैं; कितने ही राज-मुकुट नित्य स्खलित होते हैं; कितने ही सौभाग्य-बिन्दु नित्य विलुप्त हो जाते हैं, कितनी ही स्नेह-सरिताएँ नित्य शुष्क हो जाती हैं—सो कौन कह सकता है। सब कुछ खो कर कला भिखारिणी हो गई, आँखों की ज्योति जाती रही, प्राणवायु की सुरभि विलीन हो गई, आनन्द का अम्बुज विरस हो गया। सधवा से विधवा होने में उसे पूरे चार प्रहर भी न लगे।

"विधि कर लिखा को मेटन हारा।"

(४)

सारे दिन विजयचन्द्र विशूचिका की विभीषिका से जलते रहे। वमन और दस्त. दिन भर यही तारतम्य रहा उनका सारा शरीर गौर से कृष्ण-वर्ण हो गया। उनका मुख विकृत हो गया। सायङ्काल होते-होते उनका शरीर एक बार ही शिथिल हो गया और मृत्यु के अविलम्ब आगमन की सूचना उनके मुख पर स्पष्ट रूप से झलकने लगी। महा-आह्वान सुन कर वे जाने के लिये प्रस्तुत हो गये।

उनकी रोग-शय्या के एक पार्श्व बैठी थी नव वधू कलावती और दूसरी ओर बैठा था १३ वर्ष का सरल विमल। दिन भर वह नव-वधू अपने स्वामी की सेवा में-मूर्तिमती शुश्रूषा बन कर लगी रही, सारे दिन उसके मुख में अन्न का एक दाना भी नहीं गया, पानी का घूँट भी उसके गले के नीचे नहीं उतरा। वह सब कुछ भूल गई, आत्म-विस्मृति की गोद में वह पड़ गई। यहाँ तक कि, भाई विमल को भोजन कराना भी उसे स्मरण नहीं आया। एक ही ध्यान, एक ही चिन्ता, एक ही भावना, एक ही

तन्मयी धारणा, स्वामी की सेवा ही उसका महामन्त्र था। किस का ध्यान, किसकी चिन्ता ? धीरे-धीरे उसका सर्वस्व, हृदय का हार, आत्मा का प्रकाश, जीवन का अवलम्ब, सिन्दूर का रङ्ग, चूड़ी की ध्वनि, नूपुर की झंकार, सेवा का सौरभ, भक्ति की प्रतिमा, श्रद्धा का भाजन, प्रणय-पद्म का विलास, लोचन की ज्योति, पुण्य का प्रभाकर, सौभाग्य का सुधांशु, सब कुछ धीरे-धीरे मृत्यु की अन्धकारमयी कन्दरा में पतित हो रहा था। कला नीरव, बिना रुदन किये, बिना हाहाकार किये अपने कर्तव्य-पालन में संलग्न थी। फल भगवती के आधीन है, कर्म हमारा निज का है। कला मानों इस सिद्धान्त की जीव-धारिणी प्रतिमा के स्वरूप में प्रकट होकर विजयचन्द्र की स्नेहमयी सुश्रूषा में एकान्त चित्त से लगी हुई थी।

धीरे-धीरे रोगी के मुख पर मृत्यु की छाया और भी गाढ़तर होने लगी। उसी समय उन्होंने—विजयचन्द्र ने—एक बार आँख खोल कर कला की ओर देखा। उन आँखों की भाषा, उस दृष्टि का भाव, उस म्रियमाण पुत्तलिका की नीरव वेदना कौन वर्णन कर सकता है ? कला ने उनके मुख में गङ्गा-जल डाल दिया।

विजयचन्द्र ने बड़े करुण, क्षीण स्वर में कहा—"प्यारी ! मैं जाता हूँ और अपने इस ढाई वर्ष के बच्चे को तुम्हारे हाथ में दे रहा हूँ। यह मेरी पहिली स्त्री की भेंट है। यह मेरे उस मृत-प्रेम का एक मात्र अवशिष्ट चिह्न है। कल ही तुम्हें मैंने प्राप्त किया था, और आज ही मैं तुम्हें खो रहा हूँ ! कल के ही सहवास में मैंने तुम्हारे प्रेमाप्लुत, सतीत्व, सुन्दर, स्नेह, कोमल हृदय का परिचय पा लिया है। इस बच्चे की माँ मरते समय इसे मेरे हाथ में सौंप गई थी और उसी की अन्तिम इच्छा को पूर्ण करने के लिये मैं इस विवाह-बन्धन में आबद्ध हुआ था। उसने आशीर्वाद दिया था कि मैं एक सुशीला, सती, स्नेहमयी भार्य्या को पाऊँगा।

उसका आशीर्वाद तो सच्चा हुआ, पर मैं तुम्हें एक प्रकार से चिर-व्यथा में जकड़ कर जा रहा हूँ। पर, मैं क्या करूँ? मैं विवश हूँ। किसी तरह इस जीवन को, इस कंटकमय वैधव्य को काटना ही होगा। पर, मेरा यही तुमसे अन्तिम अनुरोध है कि तुम मेरे इस बच्चे का, मेरे इस लाल का, प्रथम प्रणय के इस कोमल प्रसन्न पल्लव का बड़े यत्नपूर्वक लालन-पालन करना। इसे पाल-पोस कर यथार्थ मनुष्य बनाना। यही मेरा अन्तिम अनुरोध है। बोलो प्यारी—पालन करोगी?"

कला ने आँखों के मोती आँखों ही में रोक कर कहा—"नाथ! मेरे दुर्भाग्य से आप जा रहे हैं, जायँ! इस बालक को, अपने इस परम प्रिय पुत्र को, बड़ी दीदी के लड़ौते लाल को, मैं आपके स्नेह का शेष स्मृति चिह्न मान कर लालन-पालन करूँगी।"

प्राण देकर भी यदि मैं इसे आदर्श मनुष्य बना सकी तो मैं उन्हें त्याग देने में कण भर भी आगा-पीछा नहीं करूँगी। प्रियतम! तुम्हारी आज्ञा की—तुम्हारे अनुरोध की—आवश्यकता नहीं थी। यदि इस बालक के प्रति मेरा सहज स्नेह न होता, यदि इस निबोध शिशु का सरल मुख मेरे हृदय में पुत्र-स्नेह की धारा प्रवाहित न करता तो कला आपकी एकान्त दासी आपको इस महा-यात्रा में अकेले नहीं जाने देती। दासी आपके साथ ही चलती। पर, नाथ! मेरी भी एक विनय है—प्रभो! उसे स्वीकार करना, दासी की यह प्रथम और शेष भिक्षा है।"

विजयचन्द्र के मुख पर सन्तोष के चिह्न परिस्फुट रूप में परिलक्षित हो रहे थे। वे सस्नेह बोले—"कला! प्राणेश्वरी! तुम्हारे लिये मेरे पास कुछ भी अदेय नहीं है।"

कला ने रुद्ध कण्ठ से कहा—"पर, मुझे यह वर देते जाइये प्रभो, कि जब मेरा यह शिशु, मेरा यह प्यारा अधर, मनुष्य हो

जाय; संसार में पूर्णरूप से अपनी स्थिति को संस्थापित कर ले, तब मैं आपके लोक को प्राप्त होऊँ, तब मैं निर्विकार हृदय से, विगत प्रलोभना होकर आपके पाद-पद्म में फिर से समुस्थित होऊँ। यही आशीर्वाद दीजिये मेरे दीनानाथ !"

विजयचन्द्र ने स्नेह-सरसित स्वर में कहा—"एवमस्तु।"

यही उनके अन्तिम शब्द थे। इसी 'एवमस्तु' पर, इसी पुण्य श्लोक आशीर्वाद पर, इसी इष्ट पर, इसी शुभ वाक्य पर, कला का जीवन स्थित था।

कला उस अबोध शिशु को हृदय से लगाकर पति के पूज्य पद्म में नीरव रुदन करती हुई लुण्ठित होने लगी। विमल, भूखा प्यासा विमल भी बहिन के इस दुर्भाग्य काण्ड को देखकर हाहाकार कर उठा।

आत्मा के प्रलय का यह जाज्वल्यमान चित्र था। इसीको देखकर कवि का हृदय विस्मय से अवाक्, दुःख से कातर एवं समवेदना से व्यथित हो जाता है।

(५)

सब समाप्त होगया। आत्मा अनन्त में विलीन होगई, शरीर भी भस्म हो गया और भस्म मोक्ष-दायिनी मन्दाकिनी में प्रवाहित करदी गई। अब रह गई कला के हृदय में प्रणय के प्रोज्ज्वल वर्णों में चित्रित विजयचन्द्र की कल्पना-कलित छबि, उनके प्रेम का शेष स्मृति-चिह्न शिशु अधर और कर्तव्य के आवरण से ढकी हुई कला के हृदय की प्रलयाग्नि।

मध्याह्न काल का समय था। कला वैधव्य वेश में अपनी कोठरी में बैठी हुई थी। आपादलम्बित केश-कपाल का कहीं नाम भी नहीं था। पति की भस्म के साथ वे मन्दाकिनी के अनन्त गर्भ

में निमग्न कर दिये गये थे। मस्तक का सिन्दूर दुर्भाग्य के कृष्णाम्बर से पुँछ गया था। हाथ की चूड़ी वज्राघात से टूट गईं थीं। पैरों के नूपुर वहिष्कृत हो चुके थे। शुभ्र साड़ी में यह व्यथित-कलेवर आच्छादित था। रङ्ग-विलास सब चिता पर भस्म हो गये। भूति ही अब उसके शरीर की भूषण थी। विमल बैठा था एक कौने में उदास, बेचारे का मुख कुम्हलाया हुआ था और सामने ही कुशासन पर सौम्य दर्शन, ऋषिकल्प डिप्टी साहब बैठे हुए थे। अश्रुधारा से उनका गण्डस्थल आर्द्र हो रहा था।

वे बड़े दुःख भरे कण्ठ से बोले—"बेटी! अब तू इस घर में रह कर क्या करेगी? चल अपनी माँ की गोद में चल, जहाँ से आई थी वहीं चल। चल, तुझे लेकर मैं सन्यासी होकर मन्दाकिनी-दुकूल पर कुटी बना कर रहूँगा। इस घोर व्यथा को शान्त करने का एक मात्र उपाय है तन्मयी साधना।"

कला ने गम्भीर स्वर में कहा—"न पिता! पति का पवित्र घर ही रमणी के लिये पावन तीर्थ है। उसी की धूल से अपने शरीर को धूसरित करके वह पवित्र हो सकती है।"

पिता ने करुण-कण्ठ से कहा—"सो ठीक है बेटी। पर, तेरा है नूतन वयस। तू इस घर में एकाकी कैसे रहेगी? तेरी सास नहीं, स्वसुर नहीं, किसको तू विपत्ति में गुहरावेगी?"

कला ने पवित्र तेज के साथ कहा—"पर, पिता! पति की स्मृति तो अक्षय रूप से मेरे साथ चिर-सहचरी की भाँति रहती है। सतीत्व का अच्छेद्य कवच धारण करके मैं पति के इस चरण-पूत घर को अभेद्य दुर्ग में परिणत कर दूंगी। पति की अमर स्मृति ही अन्धकारमय जीवन के कण्टकाकीर्ण मार्ग को आलोकित करती रहेगी। पिता! तुम्हीं तो इस सम्बन्ध में मेरे दीक्षा-गुरु हो।"

पिता ने कुछ अप्रतिभ होकर कहा—"सो मैं जानता हूँ बेटी! पर, तेरे ऊपर एक बालक का बोझ है। जहाँ तक मुझे ज्ञात है तेरे पति कुछ विशेष सम्पत्ति भी नहीं छोड़ गये हैं। तब तेरा निर्वाह कैसे होगा?"

कला ने उसी आत्म-विश्वास के साथ कहा—"इन्हीं चूड़ी-रहित हाथों से! आपने मुझे कला-कौशल सिखाया है। काढ़ूँगी, सीऊँगी, आवश्यकता होने पर चक्की पीसूँगी। उसी से जो उपार्जन करूँगी उससे इस शिशु का पालन करूँगी। पिता! पति की इस आज्ञा को उनकी दासी प्राण देकर भी पालन करेगी।"

पिता ने कुछ-कुछ अनुनय के भाव में कहा—"बेटी! तू क्या मेरी नहीं है, मैं क्या तेरा नहीं हूँ? यदि मेरे घर ही पर इस शिशु का पालन-पोषण होगा, तो क्या उसमें कुछ हानि है?"

कला ने बड़े उज्ज्वल आत्म-प्रकाश के स्वर में स्वर मिलाकर कहा—"हे पिता! पूज्य पितृदेवता! अप्रसन्न मत होना। यदि कदाचित् बड़ा होकर यह बालक यह जान पावेगा कि, मैंने इसके पिता की आज्ञा न मान कर स्वयं अपने हाथों से नहीं, किन्तु ननिहाल के द्वारा इसका लालन-पालन करवाया था, तो वह आजन्म-व्यापी आत्म-ग्लानि पावेगा और स्वयं मैं अपने पति की अन्तिम आज्ञा का उल्लङ्घन करने वाली नीच पापिनि मानी जाऊँगी। पिता! मेरे देवता! इस कलंक से मुझे बचाइये।"

पिता ने एक बार अन्तिम प्रयास करते हुए कहा—"न, सो मैं नहीं चाहता, पर तू मेरी स्थिति को देख! देख मेरा यह बूढ़ा शरीर, उस पर यह वज्र सा आघात, मैं तेरा यह कठोर जीवन देखकर कैसे जीवित रहूँगा बेटी?" कला ने विशुद्ध धार्मिक अनुभूति की प्रेरणा से कहा—"इसीलिये मैं चाहती हूँ कि आप २ मास में—१ मास में कम से कम एक बार मुझे दर्शन दे

जाया करें। मैंने जिस प्रकार अपने जीवन-निर्वाह की क्रिया को सम्पादन करने का सङ्कल्प किया है, उसमें आपकी सहायता अनिवार्य रूप से आवश्यक है। मुझे विश्वास है कि, आपके चरण-कमल के पुण्य-पराग को मैं अपने मस्तक पर धारण कर के, अपने इस वैधव्य-व्रत को सफलता पूर्वक उद्यापन कर सकूँगी। पिता! मुझे मार्ग दिखाओ, तुम्हारी यह अधम पुत्री तुम्हारे चरणों में यही भिक्षा माँगती है। आशीर्वाद दीजिये पिता! मैं अपने इस पुण्य-सङ्कल्प को पूरा कर सकूँ।" पिता ने अनन्त साश्रु-लोचन एवं गद्गद् कण्ठ होकर कहा—"ऐसा ही हो बेटी! यद्यपि तू आज वैधव्य-वेश में है, पर मैं तेरी जैसी सती-साध्वी का अभागा जनक हूँ; यह बात मेरे मन को शीतल सा कर रही है। ओहो! ऐसी पुण्यमयी सती की ऐसी दुःखमयी जीवन-लीला! हा महा-माया! हा जगज्जननी!!

वृद्ध पिता के स्निग्धोज्ज्वल लोचन से अविरल अश्रुधारा पतित होने लगी। पिता के आँसू अपने अञ्चल से पोंछ कर दुःखी बेटी उनके दुःख में उन्हें सान्त्वना देने लगी। बोली—"पिता! वैधव्य एक प्रकार की अग्नि-परीक्षा है। उसमें हम स्त्रियाँ अपने शरीर की आहुति देकर पवित्र होती हैं। पिता! पुण्य को दुःख में देखकर ही उसके पावनत्व और महत्त्व का परिचय प्राप्त हो सकता है। पाप तो नित्य पतित है। जैसे सोने का खरा-खोटापन अग्नि की ज्वलन्त शिखा में प्रकट होता है, स्त्री का सतीत्व भी वैधव्य की कठोर यातना में पूर्ण रूप से प्रमाणित होता है। पिता! धीर-गम्भीर मेरे पिता! आपके चरणों की दासी आपकी यह अधम सन्तान, आपके सन्मुख पूर्ण विश्वास के साथ कहती है कि, वह व्यथा के महा दुस्तर सागर को अतिक्रम करके पति-लोक को प्राप्त कर लेगी। पिता! माँ को भी समझा-

इयेगा। मेरे इस वज्रपात को सुनकर वे मर्माहत हुई होंगी। जिसमें उनके प्राणों की रक्षा हो, उस पर विशेष लक्ष्य रखना होगा। पिता ! चरण-रज दीजिये।"

कला ने पूज्य पिता के वन्द्य पदारविन्द के पुण्य-पराग को अपने चिर-पुण्य ललाट पर लगा लिया। वाष्पावरुद्ध कण्ठ से पिता ने उसके पुण्य मस्तक पर शान्त, शीतल कर स्थापन करके कहा—"बेटी ! तेरी यह वैधव्य-व्यथा, पति की पवित्र स्मृति-सरिता से सदा शीतल बनी रहे।"

देवताओं ने आकाश में, धर्म ने निखिल सृष्टि के सत्य सिद्धान्त-सदन में, एवं जगदात्री ने प्रत्येक परिमाणु में स्थित होकर कहा—'एवमस्तु !'

(६)

हिन्दुओं के यहाँ जितने नियम हैं, सबमें एक प्रकार की आन्तरिक सहानुभूति का शुद्ध परिचय मिलता है। जब हमारे यहाँ कोई रमणी देव-प्रकोप से विधवा हो जाती है, तब निकट के सम्बन्धी उसे कुछ रुपया देते हैं। कला को भी इस प्रकार लगभग १५०) रुपये मिल गये थे, पचास घर में नक़द शेष थे। इस प्रकार उसके पास दो सौ नक़द, कोई दो हज़ार का गहना और वह पैतृक गृह था। ३ महीने के लिये भोजन भी पर्याप्त था। पर उसका आदर्श था इतना ऊँचा कि, उसकी सफलता के लिये लगभग दस हज़ार की आवश्यकता थी।

वह अधर को विलायत भेज कर उच्च शिक्षा दिलाना चाहती थी। जब संकल्प दृढ़ हो जाता है; अध्यवसाय अशिथिल हो जाता है और महामाया के श्रीचरणों में अखण्ड विश्वास हो जाता है तब उद्देश्य की सफलता भी निश्चित हो जाती है। सुना

है संकल्प की शुद्धि और दृढ़ता ने भगवान् तक को घण्टों कच्चे धागे में बाँध कर नाच नचाया है।

इसी का उसने काढ़ने के लिये कपड़ा, सूत, रेशम, सलमा इत्यादि मँगवाया। सालभर में यह काम उसने पूरा किया। लगभग चार सौ उसे प्राप्त हुए। इसी भाँति जब तक अधर ग्यारह-बारह वर्ष का हुआ, तब तक उसने लगभग दो हज़ार रुपया जमा कर लिये। वह उसने अधर के नाम से बैंक में जमा कर दिये थे।

भगवती की कृपा से अधर की प्रतिभा बड़ी प्रखर थी। महेन्द्रपुर का स्कूल था केवल आठवीं कक्षा तक। वहाँ की पढ़ाई समाप्त करके वह लखनऊ पढ़ने गया। अपने कला-कौशल से, रात-दिन परिश्रम करके वह उसे खर्चा भेजती रही। अधर ने इतिहास में एम० ए० की परीक्षा प्रथम श्रेणी में पास की। इधर बैङ्क में दो हज़ार के होगये तीन हज़ार दो सौ।

अब अधर चले विलायत को। उस समय का दृश्य करुणा, स्नेह और ममता का महा समारोह था। तीन हज़ार दो सौ बैङ्क से निकाल कर एवं १८००) में अपने समस्त आभूषण बेच कर उसने अधर के वास्ते ५०००) का प्रबन्ध कर दिया।

पर, उसे विलायत भेज कर कला का वह अध्यवसाय, वह साहस, वह स्फूर्ति सब के सब अन्तर्हित हो गये। जब उद्देश्य सिद्ध होजाता है, जब मनुष्य सुदूरवर्ती लक्ष्य पर पहुँच जाता है, तब स्फूर्ति तो अन्तर्हित हो जाती है और आत्म-सन्तोष एवं आत्मानन्द का सम्मिश्रित अलस भाव उसके स्थान पर अधिकार कर लेता है।

कला अधर के पुनरागमन की प्रतीक्षा करती हुई अपने घर में बैठी रहती। किसी प्रकार कुछ कर लेती और उसी से उसका भोजन चल जाता।

आश्चर्य की कोई बात नहीं है कि, उसी गाँव के वे ही लोग जो उसे विष-कन्या, राक्षसिनी, पिशाचिनी कहते थे; अब उसे देवी अन्न-पूर्णा कहने लगे। इतने बड़े, ऊँचे, शिक्षित पुरुष की पुण्यमयी जननी होकर कला गाँव भर में पुजने लगी।

तन्मयी साधना ही सिद्धि का एकान्त साधन है।

(७)

अधर बैरिस्टर होकर विलायत से वापिस आगये। अब वे लखनऊ में बैरिस्टरी करने लगे। प्रतिभावान् थे, शीघ्र ही उनका यह व्यवसाय चल पड़ा। वे शीघ्र ही विपुल धन के स्वामी होगये।

यद्यपि अधर ने बहुत कुछ कहा, पर कला अपने पति के पैतृक गृह को छोड़ कर लखनऊ नहीं गई। वह पति ही के घर को काशी मानती थी। अब तो पति-लोक जाने का समय था। अब क्या अन्तिम समय में वह काशी को छोड़ कर चली जावे? असम्भव!

अधर प्रति शनिवार को आकर मातृ-वन्दना करते, प्रति सोमवार को वे जननी के पद-पङ्कज का पराग मस्तक पर धारण करके अपने कार्यक्षेत्र को लौट जाते।

इतवार का दिन था, प्रातःकाल का समय था, सूर्य्यदेव अपनी सुवर्ण-वर्ण किरणों से पीताम्बर गूँथ कर परम-प्रिया पृथ्वी देवी को प्रेम-पूर्वक पहिना रहे थे। मन्द समीर पल्लव-पुञ्ज से प्रेम-मय परिहास कर रहा था। पक्षिगण महामाया का गुणानुवाद गा रहे थे।

अधर ने आकर माता के श्रीचरणों में प्रणाम किया। कला ने सस्नेह उसके शिर पर हाथ रख कर आशीर्वाद दिया। उन्होंने उसे अपने पास ही बैठा लिया। वह एकटक अधर के प्रसन्न मुख-मण्डल को देखने लगी।

कला के मुख पर एक स्वर्गीय तेजोमय भाव उदित हुआ था। उसके मुख पर एक विशेष प्रकाश की आभा परिलक्षित होती थी। अधर भी माँ के पवित्र मुख-मण्डल पर अनिमेष दृष्टि का प्रवाह बहाने लगा। थोड़ी देर बाद अधर ने पूछा—"माँ! आज तुम्हारा यह भाव कैसा है? आज तो तुम मानों किसी विशेष संकल्प की आभा से जगमगा उठी हो।"

कला ने कहा—"हाँ बेटा! आज मैं अपने शुद्ध सङ्कल्प की प्रसन्न सफल-मूर्त्ति को देखकर आनन्द से उत्फुल्ल हो उठी हूँ। मैंने जिस उद्देश्य से, जिस भावना से, आज तक प्राणों की मोह-ममता को नहीं परित्याग किया था, वह आज पूरा होगया। तू संसार में प्रविष्ट हो गया, तेरा सुख-सूर्य चमक उठा। तुझे ढाई वर्ष का मेरे हाथों में सौंप कर, मेरे स्वामी मुझे यह आज्ञा दे गये थे कि मैं तुझे मनुष्य बनाऊँ। भगवती के श्रीचरणों की कृपा से मेरी वह कामना सफल हो गई। इस लोक में मेरा जो उद्देश्य था वह सफल होगया। बेटा! अब मैं आज तुम से विदा लूँगी। तेरे पिता मुझे वचन दे गये हैं कि, अधर के मनुष्य होते ही वे फिर मुझे अपने पाद-पद्म की सेवा में ले लेंगे, वे मुझे अपने पास बुला लेंगे। अब आज मैं उनके पास जाऊँगी, बेटा! प्रसन्न मन से अपनी माँ को विदा करो। भगवती तुम्हारा कल्याण-साधन करेंगी, वे ही अब तुम्हारी माँ होंगी।

अधर बालकों की तरह रो पड़े, और बोले—"माँ मैं नहीं जाने दूंगा। तुमने विमाता होकर भी मुझे जिस प्रकार पाल-पोष

सब कुछ करके अविराम परिश्रम और रात्रि-दिन अध्यवसाय करके मुझे शिक्षित बनाया, ऐसी तो गर्भ-धारिणी माँ भी नहीं होती। पर, माँ! पिता का अधिकार है तो पुत्र का भी माता पर अधिकार है। न, माँ! मैं नहीं जाने दूंगा।" अधर माँ का शुभ्र, स्वच्छ अञ्चल पकड़ कर बालकों की भाँति रोने लगे, किसी भी भाँति उन्हें सन्तोष नहीं होता था।

कला ने उसके आँसू अपने अञ्चल से पोंछ डाले। स्नेह भरे, करुणा से सने, प्रेम से परिपूर्ण शब्दों में बोली—"बेटा! ज़रा सोच तो सही, तेरे पिता को स्वर्ग में मेरे बिना कष्ट होता होगा। मैं जानती हूँ कि तेरी माँ (मेरी बड़ी दीदी) उनकी सेवा करती होंगी। पर, तौ भी उनका हाथ बटाना मेरा परम कर्त्तव्य है। वे जब थक जायँगी तो मैं दोनों की सेवा करूँगी। बेटा! तू मुझे मेरे कर्त्तव्य से रोकता है। इस प्रकार का भाव तुझे शोभा नहीं देता। बेटा! ना, लाल! स्त्री के लिये पति-देव के श्रीपाद-पद्म ही पुण्य-तीर्थ हैं। इस पावन तीर्थ-यात्रा में बाधा डालना पाप है।"

अधर चुप हो गया। माता के चरणों में प्रणाम करके उनके उस तेजस्वी, पवित्र भाव से उद्भासित वदन-मण्डल को एकटक होकर देखने लगा।

सती उठी। गोबर से लिपी हुई पृथ्वी पर वह लेट गई। देखते-देखते क्षण भर में उस प्रफुल्लचन्द्र से एक पवित्र तेज निकल कर अनन्त आकाश की ओर चला गया।

पराग उड़ गया, विरस पुष्प रह गया। प्रकाश चला गया, स्नेह-शून्य प्रदीप रह गया। पुण्य चला गया, पात्र मात्र रह गया।

अधरचन्द्र ने एक बड़ा विशाल कला-भवन स्थापित किया। उसमें देश के नवयुवक कला-कौशल की शिक्षा पाने लगे। वही

कला-कौशल जिसके आश्रय से महासती कला ने धनोपार्जन करके अधरचन्द्र को उच्च शिक्षा से विभूषित किया था।

उस विशाल मन्दिर के सर्वोच्च सुवर्ण-मण्डल पर सूर्य्यदेव और चन्द्रदेव नित्य प्रोज्ज्वल वर्णों में लिख देते हैं—"उत्सर्ग" !

पाठ १३

मेवाड़ की संस्कृति

धर्म

वैदिक धर्म—प्राचीन काल से ही मेवाड़ में वैदिक (ब्राह्मण) धर्म का प्रचार रहा है। ईश्वरोपासना, यज्ञ करना, वर्ण-व्यवस्था, वैदिक धर्म के मुख्य अंग हैं। यज्ञ में पशु-हिंसा भी होती थी। ज्योंही भारतवर्ष में बौद्ध धर्म का डंका बजने लगा, त्योंही वैदिक धर्म का प्रचार घटने लगा, परन्तु उसकी जड़ जमी ही रही। मौर्य राजा अशोक ने अपने साम्राज्य में यज्ञों का होना बन्द कर दिया था, किन्तु मौर्य साम्राज्य का अन्त होते ही शुङ्ग वंश का सितारा चमकने पर बौद्ध धर्म की अवनति के साथ ही पुनः अश्वमेधादि यज्ञ होने लगे।

चित्तौड़ से करीब १० मील उत्तर घोसुन्डी नामक ग्राम से मिले हुए वि० सं० के पूर्व की दूसरी शताब्दी के लेख से प्रकट है कि वर्तमान नगरी नामक स्थान के जो प्राचीन काल में 'मध्य-मिका' नाम से विख्यात था, राजा सर्वतात ने अश्वमेध यज्ञ किया था। सहाड़ां ज़िले के नाँदसा ग्राम के तालाब के तटवर्ती विशाल यूप (यज्ञस्तम्भ) पर वि० सं० २८२ (ई० स० २२५) के दो लेख खुदे हैं, जिनमें से एक पर शक्ति-गुण-गुरु-द्वारा षष्टिरात्र यज्ञ करने का उल्लेख है। नगरी से वि० सं० की चौथी शताब्दी की लिपि

का दोनों किनारों से टूटा हुआ एक शिलाखण्ड मिला है, जिससे ज्ञात होता है कि वहाँ........ने वाजपेय यज्ञ किया था और उसके पुत्रों ने उसका यूप (यज्ञस्तम्भ) खड़ा करवाया था। लेख खण्डित होने से यज्ञ करने वाले का नाम जाता रहा है।

इसमें सन्देह नहीं कि वैदिक धर्म पर बौद्ध और जैन-धर्म का प्रभाव अवश्य पड़ा, पर उसका अस्तित्व नष्ट नहीं हुआ। इस परिवर्तन के युग में वैदिक-धर्म में कई नवीन बातों का समावेश होकर वह नये साँचे में ढाला गया। बौद्धों की देखा-देखी मूर्ति-पूजा की प्रथा चल पड़ी और विष्णु के चौबीस अवतारों में बुद्ध और ऋषभदेव की भी गणना की गई। इसके अतिरिक्त भिन्न-भिन्न आचार्यों ने क्रमशः अपने उपास्य देवताओं के नाम पर विभिन्न सम्प्रदायों की सृष्टि की। परिणाम यह हुआ कि वैदिक-धर्म अनेक शाखाओं में बँट गया और उसके स्थान में पौराणिक-धर्म प्रचलित हुआ।

वैष्णव-धर्म—भगवद्गीता में उल्लिखित विराट्-स्वरूप को लक्ष्य में रख कर सात्वतों (यादवों) ने वासुदेव की भक्ति के प्रचारार्थ विष्णु की उपासना चलाई, जो सात्वत अर्थात् भागवत सम्प्रदाय के नाम से प्रसिद्ध हुई, यह वैष्णव सम्प्रदायों में सबसे प्राचीन है। उपर्युक्त घोसुन्डी ग्राम वाले शिला-लेख से ज्ञात होता है कि राजा सर्वतात ने भगवान् संकर्षण और वासुदेव की पूजा के निमित्त शिला-प्राकार (मन्दिर) बनवाया था। इससे निश्चित है कि मेवाड़ में विक्रम संवत् पूर्व की दूसरी शताब्दी से भी पूर्व मूर्ति-पूजा का प्रचार था और विष्णु की पूजा होती थी। भागवत सम्प्रदाय का मुख्य ग्रन्थ पञ्चरात्र-संहिता है। इस सम्प्रदाय वाले मन्दिरों में जाना, पूजा करना, मंत्रों का पढ़ना और योग द्वारा भगवान् का साक्षात होना मानते

थे। सृष्टि का पालनकर्त्ता विष्णु होने से वैष्णव-धर्म का प्रचार अधिकता से होने लगा, क्योंकि बौद्ध और जैनों को भाँति इसमें दया का प्राधान्य था। पीछे से विष्णु की अनेक प्रकार की चतुर्भुज मूर्तियाँ बनने लगीं। फिर हाथों की संख्या यहाँ तक बढ़ती गई कि कहीं चौदह, कहीं सोलह, कहीं बीस और कहीं चौबीस हाथ वाली मूर्तियाँ देखने में आती हैं।

मेवाड़ के नागदा, आहाड़, चित्तौड़गढ़ और कुंभलगढ़ आदि स्थानों में विष्णु-मन्दिर भिन्न-भिन्न समय के बने हुए हैं। जहाँ से विष्णु के पृथक्-पृथक् अवतारों की कई मूर्तियाँ मिली हैं। समय समय पर इस सम्प्रदाय की कई शाखायें हुईं जिनमें मेवाड़ में मुख्यतः बल्लभ, रामानुज और निम्बार्क सम्प्रदाय के अनुयायी हैं। विक्रम संवत् की अठारहवीं शताब्दी के मध्यकाल से मेवाड़ में वल्लभ सम्प्रदाय का प्रवेश हुआ और नाथद्वारा तथा काँकरोली में इस सम्प्रदाय के आचार्य रहने लगे। मेवाड़ में विष्णु के प्राचीन मन्दिर चित्तौड़गढ़, बाडोली, नागदा, आहाड़ आदि स्थलों में विद्यमान हैं, जिनमें सबसे प्राचीन बाडोली का शेषशायी विष्णु का मन्दिर है, जो विक्रम की दसवीं शताब्दी से भी पूर्व का बना हुआ है। नगरी से विक्रम संवत् ४८१ (ई० स० ४२४) का एक शिलालेख मिला है। जिसमें एक विष्णु मन्दिर के बनने का उल्लेख है, परन्तु अब वह मन्दिर नहीं रहा।

शैव-सम्प्रदाय—शिव की पूजा मेवाड़ में दीर्घकाल से चली आती है। ऋषभदेव से कुछ मील दूर कल्याणपुर नामक प्राचीन नगर के खण्डहर से मिले हुए विक्रम संवत् की आठवीं शताब्दी की लिपि के एक लेख में कदर्थिदेव द्वारा शिव मन्दिर बनाये जाने का उल्लेख है। शिव मन्दिर सम्बन्धी मेवाड़ से मिले

हुए शिला-लेखों में यह लेख सबसे प्राचीन है। मेवाड़ के स्वामी शिव को ही अपना उपास्यदेव मानते हैं। शिव के उपासक सृष्टि का कर्त्ता, धर्ता और हर्ता शिव को ही मानते हैं। शैव सम्प्रदाय सामान्य रूप से पाशुपत सम्प्रदाय कहलाता है। विष्णु की भाँति शिव की भी भिन्न-भिन्न प्रकार की मूर्तियाँ मिलतो हैं। शिव की मूर्तियाँ प्रायः लिङ्गाकार व ऊपर से गोल और नीचे चार मुख वाली होती हैं। इन चारों मुखों में से पूर्व का मुख सूर्य, उत्तर का ब्रह्मा, पश्चिम का विष्णु और दक्षिण का रुद्र का सूचक होता है। मध्य का गोल भाग ब्रह्माण्ड अर्थात् विश्व का बोधक है। इस कल्पना का तात्पर्य यह है कि ये चारों देवता ईश्वर के ही भिन्न-भिन्न नामों के रूप हैं। शिव की विशालकाय त्रिमूर्तियाँ सुप्रसिद्ध चित्तौड़गढ़ के दो मन्दिरों में हैं, जिनमें से परमार राजा भोज के बनवाये हुए त्रिभुवननारायण (समिद्धेश्वर) के मन्दिर की मूर्ति सबसे प्राचीन है। इस मन्दिर का महाराणा मोकल ने जीर्णोद्धार कराया, जिससे यह मोकलजी का मन्दिर कहलाता है।

इस सम्प्रदाय वाले शिव के कई अवतार मानते हैं, जिनमें से लकुलीश अवतार का प्रभाव मेवाड़ में विशेष रहा। एकलिङ्गजी, मेनाल, तिलिस्मा, बाडोली आदि स्थानों के प्राचीन शिव-मन्दिर इसी सम्प्रदाय के हैं। इन मन्दिरों के पुजारी कनफटे साधु होते थे, जो शरीर पर भस्म रमाते और आजन्म ब्रह्मचारी रहते थे। लकुलीश के ४ शिष्यों—कुशिक, गर्ग, मित्र और कौरुष्य—ये चार सम्प्रदायें चलीं। उसमें से एकलिङ्गजी के मन्दिर के मठाधीश कुषिक सम्प्रदाय के अनुयायी थे। कई शैव-सम्प्रदाय के मन्दिरों के द्वार पर लकुलीश की मूर्तियाँ बनी हुई हैं, जो पद्मासन-स्थित और जैन मूर्तियों की भाँति सिर पर केशों से आच्छादित हैं। उनके दाहिने हाथ में बीजोरा और बाँये में लकुट (दण्ड) होता है। इस सम्प्रदाय के साधु वर्तमान समय

में लकुलीश का नाम तक भूल गये हैं और वे (कनफटे, नाथ) अपने को गोरखनाथ आदि के शिष्यों में मानने लग गये हैं।

ब्रह्मा—यज्ञादि में यद्यपि—ब्रह्मा को अवश्य स्थान दिया जाता है, परन्तु मेवाड़ में ब्रह्मा का मन्दिर कहीं पर नहीं है। इससे अनुमान होता है कि इस देश में ब्रह्मा के मन्दिर बनाने और उसके पूजने की रूढ़ि न रही हो।

सूर्य पूजा—सूर्य की पूजा का मेवाड़ में अधिक प्रचार था, जिसके अनेक प्रमाण हैं। चित्तौड़गढ़ का प्रसिद्ध कालिका माता का मन्दिर सूर्य का ही मन्दिर था। वर्तमान समय में वहाँ पर जो कालिका की मूर्ति है वह पीछे से बिठलाई गई है। आहाड़, नादेसमा आदि स्थानों में प्राचीन समय के सूर्य के मन्दिर और मूर्तियाँ मिली हैं। सूर्य की मूर्ति खड़ी हुई द्विभुज होती है, दोनों हाथों में कमल, पैरों में घुटने से कुछ नीचे तक लम्बे बूट, छाती पर कवच और सिर पर किरीट होता है। राणपुर के जैनमन्दिर के निकट एक सूर्य का प्राचीन मन्दिर है, जिसके बाहरी भाग में ब्रह्मा, विष्णु, शिव और सूर्य की मूर्तियाँ बनी हुई हैं, जिन सब के नीचे सात घोड़े और पैरों में लम्बे बूट हैं।

शाक्त सम्प्रदाय—केवल परमात्मा के भिन्न-भिन्न नामों को ही देवता मान कर उपासना प्रारम्भ हुई इतना ही नहीं, किन्तु ईश्वर की मानी हुई शक्ति एवं ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि देवताओं की पत्नियों की शक्ति रूप में कल्पना की जाकर उनकी पृथक्-पृथक् पूजा होने लगी। प्राचीन साहित्य के अवलोकन से देवियों के भिन्न-भिन्न नाम मिलते हैं जैसे कि ब्राह्मी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, वाराही, नारसिंही और ऐन्द्री। इन सात शक्तियों को मातृका कहते हैं। देवियों की कल्पना में दुर्गा अर्थात् महिषासुरमर्दिनी मुख्य है और जगह-जगह उसकी पूजा होती है।

मेवाड़ के छोटी सादड़ी नामक क़सबे से दो मील दूर भँवर माता के मन्दिर से वि० सं० ५४७ माघ सुदी १० (जनवरी ई० सन् ४६१) का एक शिलालेख मिला है, जिसमें गौरवंशी क्षत्रिय राजा यशगुप्त-द्वारा देवी का मन्दिर बनाये जाने का उल्लेख है। सामोली गाँव से मिले हुए मेवाड़ के राजा शीलादित्य के समय के वि० सं० ७०३ (ई० स० ६४६) के शिलालेख में लिखा है कि वहाँ के निवासी जेंतक महत्तर द्वारा अरण्यवासिनी देवी का मन्दिर बनाया गया। इन लेखों से निश्चित है कि मेवाड़ में देवी की पूजा भी विक्रम की छठी शताब्दी के पूर्व से चली आती थी। तान्त्रिक ग्रन्थों में देवियों की अनेक प्रकार की मूर्तियों का उल्लेख है। मातृकाओं की मूर्तियाँ चित्तौड़गढ़, कुम्भलगढ़, उदयपुर आदि स्थानों में देखने में आई हैं और दुर्गा की मूर्तियाँ तो जगह-जगह मिलती हैं, उनके चार, आठ, बारह, सोलह और बीस तक भुजायें होती हैं।

देवी के उपासकों में एक दल वाममार्गी कहलाता है, जो बड़ी ही गुप्तरूप से उपासना करता है। मद्य, माँस और स्त्री-सेवन करना इस मत का मुख्य सिद्धान्त है। मेवाड़ में इस मत का पहिले विशेष प्रचार था और कुछ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, कायस्थ और शूद्र लोग निःसंकोच ऐसी उपासनाओं में भाग लेते थे। समय के परिवर्तन से अब इस मत का प्रभाव घटता जाता है, किन्तु फिर भी यत्र-तत्र इस उपासना के कुछ चिह्न विद्यमान हैं। क्षत्रिय लोग प्रायः देवी के उपासक होते हैं और नवरात्रि आदि अवसरों पर देवी के आगे भैंसों तथा बकरों का बलिदान करते हैं। अन्य लोग भी इस मत के उपासक हैं, पर उनकी उपासना का मार्ग भिन्न है।

गणेश पूजा—पौराणिक युग में जब मूर्ति-पूजा का प्रवाह चल निकला, तब शिव के पुत्र गणेश की पूजा भी प्रत्येक माङ्ग-

लिक कार्य में सब से प्रथम होने लगी और सर्वसिद्ध दाता मान कर लोग उसकी उपासना करने लगे। मेवाड़ में गणेश के मन्दिर कई जगह पर बने हुए हैं, किन्तु सत्रहवीं शताब्दी के पूर्व का कोई मन्दिर देखने में नहीं आया। शिव तथा विष्णु के कितने ही मन्दिरों के द्वार पर गणेश की मूर्तियाँ खुदी हुई मिलती हैं। इससे विदित होता है कि गणेश की पूजा भी दीर्घ-काल से होती है।

विष्णु, शिव, सूर्य, शक्ति और गणेश की पूजा पंचायतन नाम से प्रसिद्ध है और उसके उपासक स्मार्त कहलाते हैं। जावर, उदयपुर, सीसारमा आदि स्थानों में विष्णु और शिव के पंचायतन मन्दिर बने हुए हैं। ऐसे मन्दिरों में जिस देवता का मन्दिर मुख्य हो, उसकी मूर्ति मध्य के बड़े मन्दिर में और अन्य चार मूर्तियाँ बाहर के भाग में परिक्रमा के चारों कोनों पर बने हुए छोटे मन्दिरों में स्थापित की जाती हैं।

अन्य देवी देवताओं की पूजा—मूर्ति-पूजा के प्रवाह के साथ इन्द्र, अग्नि, वरुण, यम, कुवेर आदि दिक्पाल तथा रेवंत, भैरव, हनुमान, नाग आदि देवताओं की भी उपासना प्रारम्भ होकर उनकी मूर्तियाँ बनने लगीं, इतना ही नहीं, किन्तु ग्रह, नक्षत्र, प्रातः, मध्याह्न, सायं, ऋतु, शस्त्र, नदियाँ और युगों तक की मूर्तियाँ बनाई जाकर उनके पूजने की प्रथा चल निकली। उनका धार्मिक विश्वास यहाँ तक बढ़ गया कि वे वृक्षों तक को पूजने लगे। मेवाड़ में बहुधा इन उपर्युक्त देवताओं की मूर्तियाँ मिलती हैं। महाराणा कुम्भा का बनाया हुआ वि० सं० १५०५ (ई० सन् १४४८) का चित्तौड़गढ़ का प्रसिद्ध कीर्ति-स्थम्भ तो ऐसी मूर्तियों का भंडार है।

बौद्ध धर्म—मेवाड़ में निरीश्वरवादी बौद्ध धर्म का प्रचार नाम मात्र को रहा। नगरी में एक स्तूप और मौर्य राजा अशोक

के समय की लिपि में खुदा हुआ शिला-लेख का एक छोटा सा टुकड़ा मिला है, जिसमें '[स] व भूतानं दयार्थं का' 'सर्व जीवों की दया के लिये' लेख है। जीव दया की प्रधानता बौद्ध और जैन दोनों धर्मों में समान रूप से थी, इसलिये यह स्पष्ट रूप से नहीं कहा जा सकता कि यह लेख किस धर्म से सम्बन्ध रखता है।

चित्तौड़ के क़िले पर जयमल की हवेली के सामने वाले तालाब पर ठोस पत्थर के छः बौद्ध स्तूप मिले हैं। उनके सिवाय बौद्धों के सम्बन्ध का कोई चिह्न नहीं मिलता, पर इन स्तूपों से निश्चित है कि मेवाड़ में बौद्ध धर्म का कुछ प्रभाव अवश्य रहा था।

जैन धर्म—जैन-धर्म बौद्ध-धर्म से भी प्राचीन है और मेवाड़ में वैदिक-धर्म के साथ-साथ इसका पूरा प्रचार रहा। जैन-धर्मावलम्बी जीव, अजीव, आश्रव, (मन, वचन और शरीर का व्यापार एवं शुभाशुभ के बन्धन का हेतु), सत्वर (आश्रव का रोकने वाला), बन्ध, निर्जरा (बन्धकर्मों का क्षय), मोक्ष, पुण्य, और पाप इन नौ तत्त्वों को मानते हैं। जीव अर्थात् चैतन्य आत्मा, कर्म का कर्त्ता और फल का भोक्त है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति ये सब व्यक्त और अव्यक्त रूप चैतन्य गुण वाले हैं। काल, स्वभाव, नियति, कर्म और कर्म उत्पत्ति के मुख्य कारण हैं। इन्हीं पाँच निमित्तों से परमाणु (पुद्गल) नियम-पूर्वक आपस में मिलते हैं जिससे जगत् की प्रवृत्ति होती है और यही कर्म के फल देते हैं। ये लोग ईश्वर को सृष्टि का कर्त्ता नहीं मानते। इनके मतानुसार यह सृष्टि अनादि और अनन्त है। इस धर्म के अनुयायी लोग अपने चौबीस तीर्थङ्करों, कई देवियों और अपने धर्माचार्यों आदि की मूर्त्तियाँ बना कर पूजते हैं। इनके

अन्तिम तीर्थङ्कर महावीर स्वामी हैं। जैन-धर्म के भी मुख्यतः दो फिरके—दिगम्बर और श्वेताम्बर हैं। दिगम्बर सम्प्रदाय की मूर्त्तियाँ नग्न होती हैं और श्वेताम्बरों की कोपीन वाली। दिगम्बर लोग तीर्थङ्करों को वीतराग मानते हैं। अतः वे मूर्त्तियों को आभूषण आदि से अलंकृत नहीं करते, किन्तु श्वेताम्बर लोग रत्न-जटित सुवर्ण आदि की बनी हुई अँगिया आदि भूषण पहिना कर उन्हें सराग बनाने में भक्ति समझते हैं। दिगम्बर मत के साधु नग्न रहते हैं और शहरों से दूर जङ्गलों में निवास करते हैं, पर मेवाड़ में ये साधु नहीं हैं। श्वेताम्बर साधु उपासरों में रहते हैं और श्वेत तथा पीत वस्त्र पहिनते हैं। समय पाकर जैन आचार्यों ने भी कई गच्छों की सृष्टि की, जिसमें से किसी न किसी गच्छ के आचार्य को प्रत्येक जैन अपना कुल-गुरु मानता है।

स्थानक वासी (ढूँढिये) श्वेताम्बर सम्प्रदाय से पृथक् हुए हैं, जो मन्दिरों और मूर्तियों को नहीं मानते। इस शाखा के भी दो भेद हैं जो बारापन्थी और तेरहपन्थी कहलाते हैं। ढूँढियों का सम्प्रदाय बहुत प्राचीन नहीं है। लगभग ३०० वर्ष से यह प्रचलित हुआ है। जैन धर्म की उन्नति के समय में कई राजपूत जैन-धर्मावलम्बी होकर महाजनों में मिल गये और उनकी गणना ओसवालों में हुई।

मेवाड़ में सैकड़ों जैन-मन्दिर बने हुए हैं, उनमें से कितने एक मौर्य राजा संप्रति के समय के बतलाये जाते हैं, परन्तु उनके इतने पुराने होने का कोई चिह्न नहीं मिलता। वस्तुतः विक्रम की दसवीं शताब्दी से पूर्व का बना हुआ कोई जैन-मन्दिर इस समय मेवाड़ में विद्यमान नहीं है।

चित्तौड़ का प्रसिद्ध जैन कीर्तिस्तम्भ (जिसको दिगम्बर सम्प्रदाय के बघेरवाल महाजन जीजा ने बनवाया था), ऋषभ-देव (केसरियानाथ), करेड़ा, कुम्भलगढ़, चित्तौड़ के सतवीस देवलां आदि अनेक प्रसिद्ध मन्दिर मेवाड़ में जैन धर्म के उत्कर्ष के सूचक हैं।

इस्लाम धर्म—सुल्तान शहाबुद्दीन ग़ोरी ने वि० सं० १२५१ (ई० स० ११९४) में अजमेर के चौहान-राज्य को अपने हस्तगत किया, उस समय मेवाड़ का पूर्वी हिस्सा, जो चौहानों के अधिकार में था, सुल्तान के अधिकार में चला गया। तब से इस्लाम धर्म का प्रवेश होकर क्रमशः मेवाड़ में मस्जिदें बनने लगीं तथा मुसलमान शासक बलात् हिन्दुओं को मुसलमान बनाने लगे। मेवाड़ में इस्लाम धर्म के शिया और सुन्नी नामक दो फ़िर्के हैं, जिनमें सुन्नी अधिक हैं। दाऊदी बोहरे सिया फ़िर्के के अनुयायी हैं।

ईसाई धर्म—वि० सं० १८५७ (ई० सन् १८१८) में अँग्रेज़ी सरकार से सन्धि होकर कर्नल जेम्स टाड पोलिटिकल एजेण्ट होकर मेवाड़ में आया और वह उदयपुर से नौ मील दूर डबोक में रहने लगा। उसके बाद कई पोलिटिकल अफ़सर नियत होकर आये, परन्तु स्थाई रूप से ईसाई धर्म की नींव नहीं लगी। महाराणा सज्जनसिंह के समय स्काटिश प्रेसबिटेरियन मिशन का पादरी डा० शेपर्ड उदयपुर में आया और उसने यहाँ ईसाई मिशन क़ायम किया तथा मेवाड़ में शिक्षा के हेतु कई मदरसे खोले। उक्त मिशन की ओर से स्त्री-शिक्षा के लिये भी प्रयत्न किया जाकर राजधानी उदयपुर में मदरसा खोला गया और चिकित्सा के लिये अस्पताल भी बनाया गया। राज्य की ओर से गिर्जाघर बनाने को हाथी पोल के बाहर ज़मीन दी गई,

जहाँ गिरजाघर बनाया जाकर नियमबद्ध उपासना होने लगी। मिशन के उद्योग से कतिपय भील तथा थोड़े से अन्त्यजों ने ईसाई धर्म को स्वीकार किया। इसी समय से ईसाई धर्म की बुनियाद मेवाड़ में पड़ी और क्रमशः उसकी वृद्धि होती जाती है।

सामाजिक परिस्थिति

वर्ण-व्यवस्था—भारतीय लोगों के सामाजिक जीवन में वर्ण-व्यवस्था मुख्य है। और इसी भित्ति पर हिन्दू-समाज का भवन खड़ा है जो अनन्त बाधाओं का सामना करने पर भी अक्षुण्ण रहा। वर्ण-व्यवस्था का उल्लेख यजुर्वेद में भी है। बौद्ध और जैनों के द्वारा यद्यपि इसको बड़ा धक्का पहुँचा तथापि वह नष्ट न हुई और हिन्दू-धर्म के पुनरभ्युदय के साथ प्रति दिवस उसकी उन्नति होती गई। वेदों में चार वर्ण बतलाये गये हैं, जिनका वर्णन यहाँ पर किया जाता है।

ब्राह्मण—वर्ण-व्यवस्था के अनुसार ब्राह्मण-समाज चारों वर्णों में मुख्य है। ब्राह्मणों का मुख्य कर्तव्य पढ़ना-पढ़ाना, यज्ञ करना और कराना तथा दान देना और लेना है। मेवाड़ में ब्राह्मणों का बड़ा सम्मान रहा और समय-समय पर सैकड़ों गाँव कुएँ और हजारों बीघा ज़मीन उनको दी गई। उनके बनाये हुए, काव्य, साहित्य, शिल्प, इतिहास, चरित्र और वैद्यक आदि पर कई ग्रन्थ हैं और उनकी रची हुई अनेक प्रशस्तियाँ अब तक विद्यमान हैं। ब्राह्मण लोग सदा से विद्या के अनुरागी रहे, इसी-लिये शिक्षक का पद इनको मिलता था और प्रायः यही राज-कुमारों आदि के शिक्षक होते थे। पुरोहित का पद तो ब्राह्मणों की पैतृक सम्पति रही। राजा से लगा कर सामान्य व्यक्ति तक का पुरोहित ब्राह्मण होता है। मन्त्री और मुसाहिब के पद पर भी

समय-समय पर ये लोग नियत होते रहे हैं; सामान्यतः इन लोगों का कार्य पूजा-पाठ आदि भी रहा, पर देश और अपने स्वामी की रक्षार्थ युद्ध में भी ब्राह्मणों के भाग लेने के कई उदाहरण मिलते हैं। पिछले समय में ब्राह्मणों में विद्या का ह्रास होने लगा और वे कृषि-कर्म करने लगे। इस पर महाराज मोकल ने उनको साङ्गवेद पढ़ाने की व्यवस्था की, जैसा कि कुम्भलगढ़ की प्रशस्ति से पाया जाता है, (श्लोक संख्या २१७)। कई ब्राह्मणों ने व्यापार और शिल्पकारी का कार्य करना आरम्भ किया और जब पेशों के अनुसार जातियाँ बनने लगीं, तब शिल्प का कार्य करने वाले ब्राह्मण 'खाती' और व्यापार करने वाले ब्राह्मण 'बोहरा कहलाने लगे; जैसे ननवाणा बोहरा, पल्लीवाल बोहरा आदि। पिछले समय में ब्राह्मणों में गाँव आदि के नाम पर अनेक उपजातियाँ हुईं और उनका परस्पर का खान-पान का सम्बन्ध छूट गया, जिससे उनकी बड़ी क्षति हुई और होती जाती है। वर्त्तमान समय में मेवाड़ राज्य के उच्च पदों तथा अहलकारों में ब्राह्मणों की संख्या पर्याप्त है। कई पुरोहिताई, पूजा-पाठ, कथा-वाचन, अध्यापन, वैद्यक, व्यापार, शिल्पकारी आदि कार्यों से जीवन-निर्वाह करते हैं और उनकी बड़ी संख्या कृषि-जीवी है।

क्षत्रिय—ब्राह्मणों की भाँति क्षत्रियों का भी समाज में ऊँचा स्थान चला आता है। उनका मुख्य कर्तव्य प्रजा-पालन, दान देना, यज्ञ करना, अध्ययन आदि थे। शासक और सेनापति का पद क्षत्रियों का ही रहा है। ब्राह्मणों के संसर्ग से उनमें शिक्षा का प्रचार अच्छा रहा और उन्होंने संस्कृत तथा भाषा में कई ग्रन्थों की रचना की। देश पर आने वाली विपत्ति के समय प्राण देना वे क्षत्रिय अपना पुनीत कर्त्तव्य मानते रहे और मेवाड़ के क्षत्रियों ने तो समय-समय पर अद्भुत शौर्य प्रकट किया है। दरवाजों के किवाड़ों पर लगे हुए लम्बे-लम्बे तीक्ष्ण

भालों के सामने खड़े हो मदमत्त हाथी को अपने बदन पर हुलवाना, मेवाड़ के क्षत्रियों का ही काम था। छुरी, कटारी, तलवार, ढाल, बर्छी, तीर-कमान और घोड़ा राजपूतों की प्रिय वस्तु थी। पुरुषों की भाँति क्षत्राणियों ने भी वीरता के कार्य किये हैं और सतीत्व की रक्षा के लिये उनके जौहर करने के अनेक उदाहरण विद्यमान हैं। राजपूत ❀ युद्ध-विद्या में कुशल होने के अतिरिक्त अन्य कई विषयों के ज्ञाता होते थे। कविता से उन्हें बड़ा अनुराग था और वे स्वयम् कविता करते थे। इसी से वे अपने यहाँ ब्राह्मण, चारण, राव (भाट) आदि को आश्रय देते थे। शरण आये हुए की रक्षा करना वे अपने जीवन का मुख्य मंत्र जानते थे। शस्त्र छोड़ कर शत्रु भी उसके पास चला आता तो वे उसकी रक्षा करते थे। राजपूतों का स्त्री-समाज अपढ़ नहीं होता था। अध्यापिकाएँ रख उनको शिक्षा दिलाई जाती थी और व्यवहारिक ज्ञान में वे बड़ी निपुण होती थीं। चाहे सर्वस्व नष्ट हो जाय, राजपूत बचन का पालन करते थे। आत्माभिमान और वंश-गौरव राजपूतों में अवश्य होता था। मेवाड़ में शायद ही ऐसा कोई ग्राम होगा; जहाँ लड़ाई में मारे गये वीर क्षत्रियों के स्मारक की छत्रियाँ तथा चबूतरे न हों। मेवाड़ में ही नहीं, किन्तु सारे भारतवर्ष में केवल एक क्षत्रिय-वर्ण ही ऐसा रहा है, जिसमें उपजातियाँ नहीं बनी और न उसके परस्पर के खान-पान या विवाह-सम्बन्ध में कोई बाधा पड़ी।

वैश्य—वैश्यों के मुख्य कार्य पशु-पालन, दान, यज्ञ, अध्ययन, वाणिज्य, कुसीद (ब्याज-वृत्ति) और कृषि थे। बौद्ध-काल में वर्ण व्यवस्था शिथिल होने से उसका रूपान्तर हो

❀ मुसलमानों के आगमन के पश्चात् क्षत्रिय-वर्ग राजपूत शब्द से सम्बोधित होने लगा, जो राजपुत्र का अपभ्रंश है।

गया। बौद्धों और जैनों के मतानुसार कृषि करना पाप माना गया, जिससे वैश्य लोगों ने पीछे से उसे छोड़ दिया और दूसरे धंधे करना इख्तियार किया। उनके राज्य करने, राज्य-मन्त्री होने, सेनापति बनने, और युद्धों में लड़ने के अनेक उदाहरण मिलते हैं। विक्रम की ११ वीं शताब्दी के आस-पास से उनमें उपजातियाँ बनने लगीं और उनके परस्पर के विवाहादि सम्बन्ध छूटते गये।

शूद्र—प्राचीन काल में सेवा करने वाले वर्ग का नाम शूद्र था। वह वर्ण हलका नहीं समझा जाता था। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों की तरह शूद्रों को भी पञ्चमहायज्ञ करने का अधिकार था, ऐसा पतञ्जलि के 'महाभाष्य' और उसके टीकाकार कैयट के 'महाभाष्य प्रदीप' नाम के ग्रन्थ से पाया जाता है। बौद्धों की अवनति के समय हिन्दू-समाज में बहुत से कार्यों—कृषि, दस्तकारी, कारीगरी आदि—का करना तुच्छ समझा जाने लगा और वैश्यों ने कृषि और शिल्प का काम छोड़ दिया तो इन कामों को शूद्र लोग करने लगे। वे ही किसान, लुहार, दर्जी, धोबी, तक्षक, जुलाहे, कुम्हार और बढ़ई हो गये। पीछे से इस वर्ण के लोगों में पेशों के अनुसार अलग-अलग जातियाँ बन गईं और उनका परस्पर विवाह आदि सम्बन्ध भी मिट गया।

कायस्थ—कायस्थ शब्द का अर्थ लेखक है, जैसा कि प्राचीन शिला-लेखों से पाया जाता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, आदि जो लोग लेखक या अहलकारी का काम करते थे, वे कायस्थ कहलाये। ये लोग सरकारी दफ्तरों में अधिक संख्या में नौकर होते थे, पीछे से अन्य पेशेवालों के समान इनकी भी एक जाति बन गई। प्राचीन काल में राजकीय कर उगाहने के लिये एक समिति होती थी, जिसका नाम, 'पञ्चकुल' था और उसका प्रत्येक

सदस्य 'पञ्चकुल' (पञ्चोली) कहलाता था। राज्य के अहलकारों में इनकी संख्या विशेष होने से पञ्चकुल में भी ये लोग अन्य वर्ण की अपेक्षा अधिक होते थे, जिससे मेवाड़ में पञ्चोली शब्द बहुधा कायस्थों का सूचक हो गया है, परन्तु वास्तव में ऐसा ही नहीं है। ब्राह्मणों, वैश्यों और गूजरों तक में पञ्चोली उपनाम पाये जाते हैं। कायस्थों में उनके निकास-स्थान आदि के नाम से अलग-अलग भेद होगये हैं, जैसे मथुरा से निकले हुए माथुर, श्रावस्ती से निकले हुए श्रीवास्तव, वलभी से निकले हुए वालभ*, भटनेर (भटनगर) से निकले हुए भटनागर आदि। सूरजधंज कायस्थ अपने को शाकद्वीपी ब्राह्मण और वालभ क्षत्रिय बतलाते हैं।

भील—भील एक जङ्गली जाति है और मेवाड़ में उनकी बड़ी आबादी है। इस जाति के लोग बहुधा शहरों से दूर पहाड़ी प्रदेश में पहाड़ियों की चोटियों पर एक दूसरे से दूर झोंपड़े बना कर रहते हैं। बहुत से झोंपड़े मिल कर एक पाल (पल्ली) कहलाती है और उसका मुखिया पालवी (पल्लीपति) या गमेती कहलाता है, जिसकी आज्ञा में प्रत्येक पाल के लोग रहते हैं। ये लोग पशु-पालन, खेती, शिकार और घास या लकड़ी बेच कर अपना निर्वाह करते हैं और कभी-कभी चोरी या डकैती भी करते हैं। उदयपुर के राज्यचिह्न में एक तरफ़ राजपूत और दूसरी तरफ़ भील बना हुआ है, जिसका अभिप्राय यही है कि उक्त

* अब तो कायस्थ लोग वालभ नाम को भूल गये हैं और वालभ को वाल्मीक कहने लगे हैं। परन्तु वास्तव में शुद्ध रूप वालभ है। कई शिलालेख वालभ कायस्थों के लिखे हुए मिलते हैं। 'उदयसुन्दरीकथा' का कर्त्ता सोढ्ढल अपने को वालभ कायस्थ लिखता है और वलभी के राजा के भाई के वंश में अर्थात् क्षत्रिय होना प्रकट करता है।

राज्य के मुख्य रक्षक राजपूत और भील रहे हैं। प्राचीन-काल से ही ये स्वामिभक्त लोग युद्ध आदि के समय राजाओं की बड़ी सेवा करते, पहाड़ों में रहे हुए लोगों, राजपरिवारों और सरदारों के परिवारों की रक्षा करते, शत्रु की रसद आदि लूटते तथा मौके-मौके पर उनसे लड़ते भी थे। राजा के राज्याभिषेकोत्सव के अन्त में एक भील-मुखिया अपने अँगूठे को तीर से चीर कर अपने रुधिर से राजा के राज्यतिलक करता था। इस रीति का पता महाराणा अमरसिंह (दूसरे) तक तो लगता है। ये लोग भैरव, देवी, नाग, शिव, ऋषभदेव आदि देवताओं के उपासक होते हैं। इनके शस्त्र तीर, 'कामठा' (बाँस का बना हुआ धनुष) तलवार और कटार हैं। अब वन्दूक का भी ये लोग उपयोग करने लगे हैं तथा बचाव के लिये ढाल रखते हैं। ये एक लड़ाकू जाति है। इनकी स्त्रियाँ भी लड़ाई के समय अपने पतियों के साथ रह कर उनको भोजन देने, जल पिलाने और शत्रु की ओर से आये हुए तीरों को एकत्र कर उनको देने की सहायता करती हैं, एवम् कभी कभी वे लड़ती भी हैं। महाराणा सज्जनसिंह के समय ई० स० १८८१ (वि० सं० १९३८) में भीलों का उपद्रव हुआ और राज्य की सेना से लड़ाई हुई, उस समय एक भीलनी ने ऐसे ज़ोर से तीर चलाया कि वह एक ऊँट का पेट फोड़ कर पार निकल गया। इनके बालक लड़के भी अपने पशु चराते समय छोटे-छोटे कामठों से तीर चलाने का अभ्यास करते हैं। एक लड़का आकाश में कण्डा फेंकता है तो दूसरा उसको नीचे आते हुए अपने तीर से बेधने का प्रयत्न करता है। मेवाड़ में जिनको आजकल भील कहते हैं, ये सब के सब भील नहीं हैं, किन्तु उनमें मीने भी हैं। साधारण जनता और राजकीय अहलकार उन सबको भील कहते हैं, परन्तु ये दोनों जातियाँ भिन्न-भिन्न हैं और विशेष जाँच करने से ही उनके बीच

का भेद मालूम हो सकता है। मीने, मेव और मेरों के समान क्षत्रियों के सैनिकों में से हैं और भील यहाँ के आदि निवासी, जिनमें कुछ राजपूत भी मिल गये हैं। भील और भीलनियाँ नाचने, गाने और मद्य पीने के बड़े शौक़ीन होते हैं और वे बहुधा अपनी जाति के वीर पुरुषों के सम्बन्ध में गीत गाते हैं। इनका विवाह अग्नि की साक्षी से पुरोहित (गुरु) द्वारा होता है। ये लोग प्रत्येक जानवर का माँस खाते हैं और कहत वग़ैरह के समय गाय को भी खा जाते हैं। इनमें एकता विशेष रूप से होती है और ढोल बजाने या किलकारी करने से ये लोग सशस्त्र एकत्र हो जाते हैं। ये लोग स्त्रियों का बड़ा आदर करते हैं और आपस की लड़ाइयों में शत्रु की स्त्री पर कभी प्रहार नहीं करते। शपथ पर भी ये लोग बड़े दृढ़ होते हैं। केसरियानाथ (ऋषभदेव) के केसर का जल पीने पर कभी झूठ नहीं बोलते। अपने घर आये शत्रु का भी ये स्वागत करते हैं। ये लोग मेवाड़ में अस्पृश्य नहीं माने जाते।

भौतिक जीवन—यहाँ के लोगों का भौतिक जीवन बहुत अच्छा रहा। राजा, सरदार और सम्पन्न लोग बड़े-बड़े महलों और मकानों में रहते चले आते हैं। उनके मकानों में प्रकाश, वायु संचार आदि का पर्याप्त ध्यान दिया जाता है और अलग-अलग कामों के लिये अलग अलग कमरे होते हैं। अलग अलग समय पर राजाओं या सरदारों की सवारियों, धार्मिक उत्सवों, मेलों आदि के प्रसंगों पर हज़ारों लोग सम्मिलित होते हैं, कितने एक मेलों में व्यापार के लिये दूर-दूर के व्यापारी आते हैं। होली के दिनों में फाग आदि खेलने का रिवाज प्राचीनकाल से चला आता है। हाथियों, भैंसों और मेंढों आदि की लड़ाइयों को लोग उत्साह से देखते हैं। दोलोत्सव स्त्री-पुरुषों के आह्लाद

का सूचक है। शतरंज, चौपड़ आदि खेल लोगों के मनोरञ्जन के साधन हैं। प्राचीनकाल में जूआ भी होता था, जिस पर राज्य का कर लगता था, जैसा कि सारणेश्वर के मन्दिर के वि० सं० १०१० के शिलालेख से पाया जाता है। क्षत्रिय लोग आखेट प्रिय होते हैं और उसमें बड़ा आनन्द मानते हैं। सूअरों का शिकार वे प्रायः घोड़ों पर सवार होकर भालों से करते हैं और कभी-कभी बन्दूक से भी उसको मारते हैं। शिकार के समय वे कुत्ते भी साथ रखते हैं। नटों के शारीरिक खेल और रामलीला आदि भी प्राचीनकाल से शहरों और ग्रामों में लोगों के मनोरञ्जन के लिये समय समय पर होते रहे हैं। उत्सवों और त्यौहारों के प्रसंग पर स्त्री और पुरुष अपनी हैसियत के अनुसार सोने, चाँदी आदि के ज़ेवर तथा रङ्ग-विरंगे वस्त्रों का विशेष उपयोग करते हैं।

दास-प्रथा—दास-प्रथा प्राचीनकाल से चली आती है। राजाओं, सरदारों और धनाढ्य लोगों के यहाँ दास दासियाँ रहते हैं। यहाँ दास-प्रथा कलुषित या घृणित नहीं रही। ये लोग परिवार के अङ्ग की तरह रहते हैं और त्यौहार आदि प्रसंगों पर उन पर विशेष कृपा बतलाई जाती है। उनके वस्त्र खानपान आदि का सुप्रबन्ध रहता है, जिससे वे असन्तुष्ट नहीं रहते। यदि वे स्वामी को छोड़ कर अन्यत्र जाना चाहें तो किसी प्रकार का उन पर बलात्कार नहीं होता।

बहम—यहाँ की साधारण जनता में बहम का प्रवेश प्राचीनकाल से ही पाया जाता है। लोग जादू, टोने, भूत, प्रेत आदि पर विश्वास करते हैं और स्त्रियों में यह भाव विशेष रूप से पाया जाता है। भील लोगों में किसी किसी जीवित स्त्री को डाइन बतला कर उसे बहुत कष्ट दिया जाता था, परन्तु अब

राज्य की तरफ से उसकी रोक है। बहुत-सी स्त्रियाँ अपने बच्चों आदि की बीमारी के समय दवा की अपेक्षा झाड़ा-फूँका या जादू-टोने पर अधिक विश्वास करती हैं, जिससे उनका यथोचित उपचार नहीं होता।

स्त्री-शिक्षा—प्राचीनकाल से ही राजाओं, सरदारों और धनाढ्यों के यहाँ लड़कियों को भी पढ़ाने की प्रथा चली आती है, और साथ ही उनके सदाचरण की ओर विशेष ध्यान दिया जाता है। स्त्री-शिक्षा के लिये पहिले पाठशालाऐं तो नहीं थीं, किन्तु अनेक कुटुम्बों में अपने परिवार के पुरुषों या गुरुओं अथवा स्त्रियों-द्वारा कन्याओं को शिक्षा दी जाती थी और वे धार्मिक ग्रन्थों, कथाओं आदि को विशेष रूप से पढ़ती थीं। जैन आर्यायें, जैन स्त्री-समाज में साधारण शिक्षा के अतिरिक्त धार्मिक-शिक्षा का प्रचार भी करती रही हैं। कई स्त्रियों के रचे हुए भाषा के गद्य-ग्रन्थ, कविता के ग्रन्थ एवं अनेक भजन, गीत व पद उपलब्ध होते हैं। गीतों की रचना तो स्त्रियों के लिये एक आसान बात है। मीराँबाई के भजन और पद भारत भर में प्रसिद्ध हैं।

पर्दा—मेवाड़ में पहिले पर्दे की प्रथा बिल्कुल नहीं थी। राजाओं, सरदारों और धनाढ्यों के यहाँ स्त्रियों के रहने के स्थान पुरुषों से अलग अवश्य होते थे, जहाँ साधारण पुरुषों का प्रवेश नहीं होता था, परन्तु पुरोहित आचार्य आदि के लिये कोई रोक-टोक न थी। कई राज-घरानों की स्त्रियाँ लड़ाइयों में लड़ी हैं, एवम् शिकार में अपने पात के साथ भाग लेती रही हैं। जब मेवाड़ के राजाओं का प्राचीन रीति के अनुसार राज्याभिषेकोत्सव होता था, उस समय राजा और मुख्य राणी एक सिंहासन पर आरूढ़ होते थे और राज-सभा के सन्मुख उनका

अभिषेक होता था। राज्याभिषेक की इस रीति के महाराणा राजसिंह (दूसरे) तक प्रचलित रहने का तो पता चलता है। दिल्ली में मुग़लों का राज्य क़ायम होने के बाद जब हिन्दू राजाओं का वहाँ रहना होने लगा, तब से जयपुर, जोधपुर आदि राज्यों में मुग़लों की देखा-देखी पर्दे की प्रथा का प्रवेश हुआ, परन्तु मेवाड़ में उसका प्रचार महाराणा राजसिंह (दूसरे) के पीछे से हुआ। जब राजाओं के यहाँ यह प्रथा चली तो छोटे-बड़े राजपूत सरदारों, मंत्रियों एवं धनाढ्यों के यहाँ भी उसका अनुकरण होने लगा। पर्दे की प्रथा वाले सम्पन्न लोगों की स्त्रियाँ त्यौहार, देव-दर्शन विवाह आदि प्रसंगों पर कुछ स्त्रियों को साथ लेकर बाहर निकलने में संकोच नहीं करतीं। साधारण जनता में इस प्रथा का रिवाज बिल्कुल नहीं है। यह प्रथा उन्हीं देशों में है, जहाँ मुसलमानों की प्रबलता विशेष रूप से रही।

सती—सती की प्रथा भी प्राचीन है। वि० सं० की छठी शताब्दी के आस-पास से लेकर १९ वीं शताब्दी तक के सतियों के स्मारक-स्तम्भ मिलते हैं। पहिले प्रत्येक जाति में यह रीति प्रचलित थी, परन्तु विशेष रूप से नहीं। कोई स्त्री किसी के बहकाने या आग्रह करने पर सती नहीं होती थी, किन्तु पति के साथ विशेष प्रेम होने से वह स्वयम् पति के साथ जल मरती थी। सामान्यतः सती होने वाली स्त्रियों की संख्या सैकड़े पीछे १ या २ से अधिक नहीं रही। राजाओं में बहु विवाह की प्रथा होने के कारण उनके साथ अधिक रानियाँ या उपपत्नियाँ सती होती थीं, जैसा कि उनके स्मारक-शिलाओं से पाया जाता है। ई० स० १८२९ (वि० सं० १८८६) में लार्ड विलियम बेंटिंक ने भारत के अँग्रेजी राज्य में इस प्रथा को बन्द किया। फिर सरकार ने देशी राज्यों में भी उसे बन्द कराने का प्रयत्न किया।

महाराणा सरूपसिंह ने बरसों तक टालमटूल करने के बाद वि० सं० १९१८ (ई० स० १८६१) में अंग्रेजी सरकार की इच्छा के अनुसार अपने राज्य में इस प्रथा की रोक करदी तो भी उसके साथ उसकी उपपत्नी एजांबाई सती हो गई। तत्पश्चात् यह प्रथा मेवाड़ से बिल्कुल उठ गई।

साहित्य—इस राज्य में संस्कृत, डिंगल और राजस्थानी साहित्य का प्रचार बहुत-कुछ रहा। संस्कृत में कविता की ओर विशेष ध्यान दिया जाता था और कविता भी अधिकांश में बहुत सुन्दर होती थी, जैसा कि छोटी सादड़ी के पास के भंवर-माता के मन्दिर से मिले हुए वि० सं० ५४७ (ई० स० ४९०) के गौर वंशी क्षत्रिय राजा यशगुप्त के, वि० सं० ७१८ (ई० स० ६६१) के राजा अपराजित के तथा वि० सं० १०१० (ई० स० ९५३) के राजा अल्लट के लेखों एवं चित्तौड़, कुम्भलगढ़, एकलिंगजी आदि की विस्तृत प्रशस्तियों से पाया जाता है। ऐतिहासिक काव्य भी कई लिखे गये, जिनका उल्लेख प्रसंगाप्रसंग पर किया गया है। महाराणा कुम्भा ने चार नाटकों की रचना की थी। उसके समय सूत्रधार मण्डन ने देवतामूर्ति-प्रकरण, प्रासादमण्डन, राजवल्लभ, रूपमण्डन, वस्तुमण्डन, वास्तुशास्त्र, वास्तुसार और रूपावतार तथा उसके भाई नाथा ने वास्तुमंजरी और उसके पुत्र गोविन्द ने उद्धार-धोरिणी, कला-निधि एवं द्वारदीपिका नामक शिल्प के ग्रन्थ रचे थे। स्वयम् महाराणा कुम्भा ने कीर्तिस्तम्भों के विषय का एक ग्रन्थ रचा और उसको शिलाओं पर खुदवा कर अपने प्रसिद्ध कीर्तिस्तम्भ पर लगवाया था, जो नष्ट होगया, परन्तु उसकी पहिली शिला का ऊपर का आधा हिस्सा मिला है, जिससे पाया जाता है कि उसने जय और अपराजित के मतों को देखकर उस ग्रन्थ की

रचना की थी। संगीत सम्बन्धी कई ग्रन्थों की रचना यहाँ हुई। महाराणा कुम्भा ने संगीतराज, संगीतमीमांसा आदि ग्रन्थों की रचना की। वैद्यक और ज्योतिष सम्बन्धी कितने एक ग्रन्थ भी यहाँ लिखे गये। डिंगल और राजस्थानी भाषा में गीत तथा ऐतिहासिक काव्यों की रचना विशेष रूप से मिलती है। खुम्माणरासा, राणारासा, रायमलरासा, भीमविलास आदि कई ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं, जैसा कि पहिले कई स्थानों पर बतलाया जा चुका है। संस्कृत ग्रन्थों की रचना विशेष कर ब्राह्मणों की की हुई मिलती है और डिंगल तथा राजस्थानी की रचना रावों, चारणों, भाटों, मोतीसरों तथा कई जैन साधुओं आदि द्वारा हुई है। अङ्गरेज़ी शिक्षा के प्रचार के पहिले राजाओं, सरदारों, राजकीय पुरुषों, श्रीमन्तों आदि को डिंगल या राजस्थानी भाषा की कविता से विशेष अनुराग रहा और वे स्वयम् कविता की रचना भी करते थे, इतना ही नहीं, किन्तु कविता से विशेष अनुराग होने के कारण वे कवियों का यथेष्ट आदर करते और गाँव, कुएँ, आदि समय समय पर उनको देते रहे, जिनमें से अधिकतर अब तक उनके वंशजों के अधिकार में चले आते हैं।

शासन—मेवाड़ में प्राचीनकाल से ही राजा क्षत्रिय रहे हैं। वे अपने सामन्त, अमात्य (प्रधान-मन्त्री), सेनापति, सान्धिविग्रहिक,❀ अक्षपटलिक‡ आदि अधिकारियों की सलाह

❀ जिस राज कर्मचारी या मन्त्री के अधिकार में अन्य राज्यों से सन्धि या युद्ध करने का कार्य रहता था, उसको सान्धिविग्रहिक कहते थे।

‡ राज्य के आय-व्यय के विभाग का अध्यक्ष अक्षपटलिक कहलाता था।

से राजकार्य करते थे, यदि प्रजा को कोई शिकायत होती तो उसकी सुनाई होकर उसके निराकरण का उद्योग किया जाता था। राज्य के अलग २ विभागों पर अलग-अलग अध्यक्ष नियत रहते थे। सेना की व्यवस्था इस प्रकार होती थी कि राजा के कुटुम्बियों और सरदारों को राज्य की तरफ़ से जागीरें दी जाती थीं, जिनकी आय के अनुसार नियत सेना से उनको राजा की सेवा करनी पड़ती थी। शत्रु के साथ के युद्ध के समय आवश्यकतानुसार उन्हें अपनी सेना के साथ लड़ने को जाना पड़ता था। उन लोगों को नियत खिराज भी देना पड़ता था। इस सेना के अतिरिक्त कई राजपूत आदि ख़ास तौर से वेतन पर नियत किये जाते थे।

युद्ध—शत्रुओं के साथ की लड़ाई, अपने राज्य पर के आक्रमण या पड़ोसी राज्यों पर हमला करने के समय सेनापति सेना की व्यवस्था करता था। सेना के मुख्य अङ्ग हाथी, घोड़े और पैदल होते थे। लड़ाई के समय हाथी आड़ के तौर पर खड़े किये जाते थे, परन्तु पीछे से लड़ाई में उनका उपयोग कम होता गया और घोड़ों का प्रचार बढ़ता गया। लड़ने वाले योद्धाओं के शस्त्र पहिले तलवार, कटार, बरछा, भाला और तीर-कमान होते थे, एवम् बचाव के लिये ढाल रहती थी। कई योद्धा अपने परतलों में दो तलवारें इस अभिप्राय से रखते थे कि लड़ते समय यदि एक टूट जाय तो दूसरी से काम लिया जाय। महाराणा साँगा के समय तक मेवाड़ में बन्दूकों या तोपों का प्रचार नहीं हुआ था, क्योंकि उस समय तक राजपूत उनको बन्दूकों और बारूद* के उपयोग से अपरिचित थे।

* बाबर के भारत में आने के पहिले मेवाड़ के पड़ौसी गुजरात के सुल्तान के यहाँ बारूद का प्रवेश हो चुका था। उनका परिचय अरब

तोपों का सामना पहिले पहल बाबर के साथ की खानवे की लड़ाई में करना पड़ा था। उसके बाद मेवाड़ में बारूद का प्रचार हुआ और बन्दूकें तथा तोपें बनने लगीं। लड़ाई के समय राजपूत योद्धा अपने बचाव के लिये सिर पर लोहे की कड़ियों वाले टोप, जिन पर कलगियाँ लगी रहती थीं, गर्दन से जंघा तक लोहे की कड़ियों के भिन्न-भिन्न प्रकार के बख़्तर और

और मिश्र के तुर्कों से था और रूमी मुसलमान उनकी सेवा में रहते थे। सुल्तान महमूदशाह बेगड़ा के समय गुजरात में रूमियों की अध्यक्षता में तोपखाना बना और पोर्चुगीज़ों के साथ लड़ाई में उनका एक बड़ा जहाज़ तोपों से उड़ाया गया था। महाराणा विक्रमादित्य के समय गुजरात के सुल्तान बहादुरशाह की चित्तौड़ पर चढ़ाई हुई, उस समय गुजराती सेना के साथ तोपखाना था। अकबर के समय मेवाड़ में बन्दूकें और तोपें बन गई थीं। वि० सं० १६३५ (ई० स० १५७८) में महाराणा प्रतापसिंह के समय बादशाह अकबर के सेनापति शाहबाज़खाँ ने कुम्भलगढ़ को घेरा, तब क़िले के अन्दर की एक बड़ी तोप फट जाने से लड़ाई का बहुत सा सामान जल गया था। तोपों के आविष्कार के पहले चित्तौड़, रणथम्भोर आदि क़िलों में पत्थर के बड़े-बड़े गोले शत्रु पर फेंकने के लिये 'मकरी' नामक एक यन्त्र रहता था, जिसको फ़ारसी में मञ्जनीक और अङ्गरेज़ी में केटेपुल्ट (Catapult) कहते थे। इस यन्त्र के द्वारा नीचे से क़िलों में और क़िलों से नीचे की तरफ़ पत्थर के बड़े-बड़े गोले फेंके जाते थे। चित्तौड़, रणथम्भोर आदि क़िलों में ऐसे गोलों के ढेर अब तक कई जगह देखने में आते हैं। गिरनार, (जूनागढ़, काठियावाड़) के क़िले के एक तहखाने के अन्दर मन-मन भर के गोले भी मैंने देखे हैं। पृथ्वीराजरासो में चौहान राजा पृथ्वीराज के समय तोपों और बन्दूकों का वर्णन है, जो सर्वथा कल्पित है, क्योंकि यह पुस्तक वि० सं० १६०० के कुछ पीछे की बनी हुई है।

पैरों की रक्षा के लिये वैसे ही पायजामें पहनते थे। अपने घोड़ों की रक्षा के लिये उनकी पीठ पर मोटे वस्त्रों की बनी हुई, भीतर लोहे की शलाका लगी हुई पाखरें (प्रक्षरा) डालते थे। गर्दन के बचाव के लिये मोटे चमड़े की दोनों तरफ लटकती हुई गर्दनियाँ रहती थीं और सिर की रक्षा के लिये भी वैसे ही चमड़े के आवरण रहते थे, जिनके आगे कभी कभी हाथी की सूँड बनाई जाती थी, जैसी कि पत्ता के चित्र में दीख पड़ती है। इस प्रकार सजधज कर शत्रु पर धावा करते समय भाले या तलवार का उपयोग करते थे। कभी कभी आवश्यकता पड़ने पर घोड़ों को छोड़ कर पैदल हो जाते और तलवार से लड़ते थे। दूरी के युद्ध में वे तीर कमान का उपयोग करते थे। वे युद्ध से भागने की अपेक्षा लड़ कर मरना पसन्द करते थे, क्योंकि उनका यह दृढ़ विश्वास था कि युद्ध में मरा हुआ पुरुष सीधा सूर्य-मण्डल को जाता है। लड़ाई में घायल हुए शत्रुओं को वे उठा कर अपने यहाँ ले जाते और उनका इलाज कराते, परन्तु जो शत्रु ऐसा घायल होता कि जिसके बचने की कोई आशा न रहती तो उसको मार डालते, जिसको वे 'दूध पिलाना' कहते थे। कटार का उपयोग बहुत पास-पास भिड़ जाने पर होता था अथवा घायल होकर गिरने पर यदि शत्रु मारने को निकट आ जाता, तो किया जाता था। जब शत्रु क़िले के नज़दीक आ जाता तब उसकी दीवार के सीधे और तिरछे छिद्रों में से तीर या गोली मारते और उनके सीढ़ियाँ लगा कर दीवार पर चढ़ने की कोशिश करने पर उबलता हुआ तेल एवम् उसमें तर कर जलती हुई रुई या कपड़े उन पर डालते थे। क़िलों में संग्रह किये हुए खाद्य पदार्थ के खूट जाने पर स्त्रियाँ अपने सतीत्व की रक्षा के लिये जौहर कर जल जातीं और राजपूत गङ्गा-जल पी, केसरिया वस्त्र, सिर में तुलसी और गले में रुद्राक्ष की माला

धारण कर तथा कसूँबा (जल में घोला हुआ अफीम) पी कर हाथ में तलवार लिये दरवाज़ा खोल देते और शत्रु पर टूट पड़ते थे। उस समय वे प्राणों का मूल्य सस्ता और वीर-कीर्ति का मँहगा समझते थे। राजपूत प्राण रहते हुए अपना बख्तर❀ शस्त्र या

❀ अकबर से पराजित गुजरात के सुलतान मुज़फ्फरशाह के बंगाल में भाग कर फिर गुजरात में पहुँचने और वहाँ उपद्रव मचाने की खबर पाकर बादशाह (अकबर), जगन्नाथ कछवाहा, रायमल दरबारी (शेखावत), जयमल कछवाहा और मानसिंह आदि को साथ लेकर उस पर चढ़ा। लड़ाई के समय कछवाहा जयमल, जो रूपसिंह का पुत्र और भारमल का भतीजा था, एक भारी बख्तर पहिने हुए था। अकबर ने उस बख्तर को उसके लिये उपयुक्त न देख कर उतरवा दिया और अपने निजी बख्तरों में से एक अच्छा और हलका बख्तर उसे पहना दिया। उस पर राठौर मालदेव के पोते करण के बख्तर न देख कर बादशाह ने यह भारी बख्तर उसे दे दिया। जब जयमल नये बख्तर को पहने हुए अपने पिता के पास पहुँचा, तो उस (पिता) ने उससे पूछा कि अपना बख्तर कहाँ है ? इस पर जयमल ने सारा वृतान्त उसे कह सुनाया।

कछवाहों और राठौरों में बैर-भाव था, जिससे जयमल के पिता (रूपसिंह) को यह बात बहुत बुरी लगी और उसने बादशाह से यह कह कर अपना बख्तर माँगा कि वह मेरे पूर्वजों का है और शुभ तथा विजय का चिह्न है। बादशाह ने उससे कहा कि मैंने भी अपना शुभ तथा विजय देने वाला बख्तर तुम्हें दिया है, तो भी रूपसिंह को सन्तोष न हुआ और वह बिना बख्तर के ही लड़ने लगा। इस पर बादशाह भी अपना बख्तर उतार कर युद्ध के लिये तैयार हुआ, जिससे कछवाहा भगवानदास ने बहुत समझा-बुझा कर रूपसिंह को बख्तर पहना दिया। और बादशाह से यह कहा कि रूपसिंह ने भंग के नशे में इतनी बात कही थी, अतएव उसे क्षमा किया जाय।

घोड़ा❀ शत्रु को कभी नहीं देता था। लड़ाइयों के समय रणवाद्य बजाये जाते और चारण भाट आदि लोग पहिले के पुरुषों की वीर-गाथा के छन्द उच्च स्वर से सुना सुना कर उनके प्रोत्साहन को बढ़ाते रहते थे।

राजपूत वीरों की वीर लीला का मुख्य क्षेत्र मेवाड़ रहा है। चित्तौड़ के क़िले की रज का एक-एक कण राजपूत वीरों के रुधिर से अनेक बार तर हुआ है। कुम्भलगढ़, मांडलगढ़, हल्दी-घाटी, दीवेर, गोगूँदा आदि अनेक रणभूमियाँ प्रसिद्ध हैं। हज़ारों ग्रामों में युद्ध में प्राण देने वाले वीरों के स्मारक-स्तम्भ अब तक विद्यमान हैं; जो उनकी वीरता एवम् कीर्ति को जीवित रखे हुए हैं।

❀ जसवन्तराव होलकर सिन्धिया से हार कर मेवाड़ में आया और उसने नाथद्वारे को लूटना चाहा। इसकी सूचना वहाँ के गुसाँई ने महाराणा भीमसिंह को दी। इस पर महाराणा ने अपने कई सरदारों को सेना-सहित वहाँ भेजा। वे लोग गुसाँई और मूर्त्तियों को लेकर चले, इतने में कोठारिये का रावत विजयसिंह भी उनकी सहायता के लिये जा पहुँचा। पहिले वे लोग ऊनवास गाँव में ठहरे। वहाँ से आगे कुछ भय न देख कर विजयसिंह अपने ठिकाने को रवाना हुआ। मार्ग में जसवन्तराव होलकर की सेना ने उस बहादुर को घेर कर कहा—'शस्त्र और घोड़े दे जाओ'। शस्त्र और घोड़ों को देने में अपना अपमान समझ कर उस वीर रावत ने अपने घोड़ों को मार डाला और स्वयम् वीरता पूर्वक शत्रुओं पर टूट पड़ा। शत्रु-सेना में हज़ारों सैनिक थे, जो विजयसिंह की बहादुरी पर शाबाश! शाबाश! बोलते और अपनी जान का ख़तरा समझते थे। अन्त में वह वीर अपने राजपूतों सहित वहीं मारा गया।

न्याय और दण्ड—न्याय के लिये वर्तमान शैली की अदालतें पहिले नहीं थीं और न विशेष लिखा-पढ़ी होकर बड़ी-बड़ी मिस्लें बनती थीं। कभी-कभी राजा और विशेष कर न्यायाधीश सब प्रकार के मुक़द्दमे फ़ैसल करते थे। न्याय मिताक्षरा टीका सहित याज्ञवल्क्यस्मृति या उनके मेवाड़ी भाषानुवाद के आधार पर होता था। गाँव के कितने ही मुक़द्दमे तो वहाँ की पञ्चायतों से फ़ैसल हो जाते थे और कुछ ज़िलों के हाकिम तय कर देते थे। संगीन जुर्म का फ़ैसला न्यायाधीश देता था। अलग-अलग प्रकार के अपराधों के लिये अलग-अलग तरह की सजायें दी जाती थीं। शिरच्छेद, अङ्गच्छेद, देश-निर्वासन, कारागार, जुर्माना आदि सजायें भी होती थीं। अदालती काम पहिले आज के जैसा जटिल न था। मुसलमानों के सम्बन्ध के ख़ास दावे उनकी शरह के अनुसार फ़ैसल होते थे।

आय-व्यय—राज्य की आय कई प्रकार से होती थी, जिनमें विशेष तो भूमि कर से होती थी। पहिले भूमि की पैदायश का छठा भाग अनाज के रूप में लिया जाता था। पीछे से कुछ अधिक लिया जाने लगा। दूसरी आय राज्य में आने वाले और उससे बाहर जाने वाले माल पर का कर (चुङ्गी) था, जो नक़द रुपयों में लिया जाता था। आय का तीसरा ज़रिया चाँदी, शीशे और लोहे आदि की खानें थीं। पहिले जावर की चाँदी की खान से राज्य को बड़ी आय होती थी। सरदारों से नियत ख़िराज (छटूँद) लिया जाता था। इनके अतिरिक्त दण्ड, पशु-विक्रय और जुए का कर तथा कई अन्य छोटी-बड़ी लागतों से भी आय होती थी। जंगल राज्य की सम्पति समझी जाती थी, परन्तु पशुओं के लिये गोचर भूमि छोड़ी जाती और पहाड़ी प्रदेश के भीलों के लिये घास,

लकड़ी एकत्र करने और उनको बेचने का प्रतिबन्ध न था। राज्य की ओर से बनवाये हुये मन्दिरों आदि के निर्वाह के लिये गाँव, कुएँ या भूमि दी जाती थी और उनका साधारण खर्च दूकानों, घरों, कुओं, वस्तुओं, आदि पर के नियत कर से चलता था।

व्यय के मुख्य अङ्ग राज्यकार्य, तालाब आदि सार्वजनिक कार्य, सेनाविभाग तथा धार्मिक संस्थायें थे। पहिले देन-लेन में आज के समान रुपयों की विशेष आवश्यकता नहीं रहती थी। कई सैनिकों, नौकरों आदि को वेतन में विशेष रूप से अन्न और थोड़े से रुपये मिलते थे। साधारण जनता में भी बहुत सी वस्तुएँ अन्न देकर या एक वस्तु के बदले दूसरी वस्तु ली जाती थी। रुपयों का उपयोग कम होता था।

कृषि और सिंचाई का प्रबन्ध—राज्य के अधिकांश लोगों का मुख्य व्यवसाय कृषि रहा, इसलिये कृषकों की सुविधा का पूरा ख़याल रखा जाता था। काली मिट्टी की ज़मीन की, जिसको 'माल' कहते हैं, सिंचाई के लिये कुओं की जरूरत नहीं होती। उसमें बिना सिंचाई के ही दोनों फ़सलें हो जाती हैं, परन्तु अन्यत्र खेती की सिंचाई के लिये जगह जगह कुएँ बने हुए हैं, जिन पर के अरहट या चरसों के द्वारा खेतों में जल पहुँचाया जाता है। जगह-जगह छोटे-बड़े तालाब बने हुए हैं, जिनसे सिंचाई होती है और पानी कम होने पर उनके अन्दर के भागों में भी खेती होती है। जय समुद्र, राज समुद्र, उदय सागर, पीछोला, फतह सागर आदि बड़े-बड़े तालाबों की नहरों से भी बहुत कुछ आबपाशी होती है। नदियों से भी नालियाँ काट कर कई जगह खेतों में जल पहुँचाया जाता है। पहाड़ों के ढालों आदि पर, जहाँ हल नहीं चलाये जा सकते, भील लोग जगह-

जगह लकड़ियाँ काट कर उनके ढेर लगाते और उनको जला देते हैं, जिसकी राख खाद का काम देती है। फिर वे लोग वहाँ की ज़मीन को खोद कर उसमें मक्का वग़ैरह अन्न बोते हैं। ऐसी खेती को वालरा (वल्लर) कहते हैं। इस प्रकार की खेती प्राचीन काल से होती आई है। पहले अफ़ीम की खेती से किसानों को बड़ी आय होती थी, परन्तु पिछले वर्षों उसके बन्द हो जाने से उनकी वह आय कम हो गई।

आर्थिक-स्थिति—पहले देश की उत्पन्न वस्तुओं से ही विशेष कर जन साधारण का काम चल जाता था, जिससे लोग संतुष्ट रहते और उनकी आर्थिक स्थिति साधारणतया अच्छी रहती थी। अलबत्ता अकाल के समय एकाध पदार्थ बाहर से लाने के साधन कम होने के कारण बहुत से ग़रीब लोग मर जाते थे। मुसलमानों और मरहठों के आक्रमण के समय प्रजा के लुट जाने से देश का अधिकांश भाग ऊजड़ और निर्धन सा हो गया। पीछे शान्ति के समय देश की दशा सुधरती गई, किन्तु जब से भड़कीली और विशेष सुन्दर चीज़ें बाहर से आने लगीं और लोगों की रुचि उनकी ओर बढ़ी तब से बहुत से देशी व्यवसाय नष्ट हो गये। व्यापार के मार्ग की सुविधा होने के कारण देश की उत्पन्न वस्तुयें बाहर जाने लगीं, जिससे बाहर से द्रव्य तो आने लगा परन्तु मँहगाई बढ़ती गई। जिससे लोगों की स्थिति पहले जैसी न रही, तो भी लोग सामान्यतः सन्तुष्ट हैं।

शिल्प-कला—प्राचीन काल में मेवाड़ में शिल्प-कला बहुत ही उन्नत दशा में थी। बाड़ोली, मैनाल, तिलिस्मा, बीजोल्या, धोड़, नागदा, चित्तौड़, आदि के कई मन्दिरों में तक्षण-मूकला के अपूर्व नमूने मिलते हैं। बाड़ोली के मन्दिरों की जो

आबू (देलवाड़ा) के जैन मन्दिरों से भी प्राचीन हैं, शिल्प-कला के विषय में कर्नल टाड् ने लिखा है—"उनकी विचित्र और भव्य बनावट का यथावत् वर्णन करना लेखनी की शक्ति के बाहर है। यहाँ मानों हुनर का ख़ज़ाना खाली कर दिया गया है। उसके स्तम्भ, छतें और शिखर का एक एक पत्थर छोटे से मन्दिर का दृश्य बतलाता है। प्रत्येक स्तम्भ पर खुदाई का काम इतना सुन्दर और बारीक़ी के साथ किया गया है कि उसका वर्णन नहीं हो सकता। यह मन्दिर सैकड़ों वर्षों का पुराना होने पर भी अब तक अच्छी स्थित में खड़ा है।" इसी तरह बहुत से अन्य स्थानों के मन्दिरों में शिल्प-कला के उत्कृष्ट नमूने पाये जाते हैं। वि० सं० ७१८ के राजा अपराजित के समय के कुटिल लिपि के शिला-लेख के छोटे अक्षरों और स्वरों की मात्राओं को ऐसी सुन्दरता से खोदा है कि उसकी प्रशंसा किये बिना नहीं रहा जाता। ऐसा ही कई अन्य शिला-लेखों के बारे में भी कहा जा सकता है। अनेक स्थानों से प्राप्त कितनी ही पाषाण और धातु की प्राचीन मूर्तियाँ भी तक्षण-कला के उत्तम नमूने हैं। मुसलमानों के समय से राज-महलों, मन्दिरों और सम्पन्न लोगों के मकानों में मुसलमानी (सारसैनिक्) शैली का मिश्रण होता गया और अब उनमें अङ्गरेज़ी शैली का भी मिश्रण होने लगा है।

चित्र-कला—मेवाड़ में वि० सं० की १३ वीं शताब्दी के पूर्व का कोई चित्र देखने में नहीं आया। उस काल में पूर्व के राजाओं आदि के कई चित्र मिलते हैं, जो वास्तव में समका-लीन नहीं, किन्तु पीछे के बने हुए हैं। राज्य में और सरदारों तथा सम्पन्न पुरुषों के यहाँ चित्रों के संग्रह मिलते हैं, जिनमें अनेक देवी-देवताओं, राजाओं, सरदारों, वीर एवं धनाढ्य पुरुषों, धर्माचार्यों, राजाओं के दरबारों, सवारियों, तुलादानों, राज-

महलों, जलाशयों, उपवनों, रणखेत की लड़ाइयों, शिकार के दृश्यों, पर्वतीय छटाओं, महाभारत और रामायण के कथा-प्रसंगों, साहित्य शास्त्र, नायक-नायिकाओं, रसों, ऋतुओं राग-रागनियों आदि के कई सुन्दर चित्र पाये जाते हैं। ये चित्र बहुधा मोटे काग़ज़ों पर मिलते हैं। ऐसे संग्रह छूटे पत्रों की हस्त-लिखित पुस्तकों के समान ऊपर नीचे लकड़ी की पाटी रख कर कपड़े के वेष्टनों से बँधे रहते हैं, जिनको 'जोतदान' कहते हैं। कई राजाओं आदि के पुराने पूरे क़द के चित्र भी मिलते हैं। इन चित्रों के अतिरिक्त कामशास्त्र या नायक-नायिका भेद के लिखित ग्रन्थों, गीतगोविन्द, भागवत, आदि धार्मिक पुस्तकों शृङ्गाररस आदि की वार्त्ताओं एवं धार्मिक कथाओं की हस्त-लिखित पुस्तकों में भी प्रसंग-प्रसंग पर भिन्न-भिन्न विषयों के भावसूचक सुन्दर चित्र मिलते हैं, जिनमें कितने ही चित्रकला के सुन्दर नमूने हैं। नाथद्वारा के वर्तमान टीकायत गोस्वामी महाराजा गोवर्धनलालजी ने एक लाख से अधिक रुपये व्यय कर सम्पूर्ण श्रीमद्भागवत को नाथद्वारा के प्रसिद्ध चित्रकारों से सचित्र तैयार करवाया है। यह अमूल्य ग्रन्थ भी चित्रकला की दृष्टि से देखने योग्य है। वर्तमान समय में नाथद्वारा और उदय-पुर दोनों चित्रकला के लिये प्रसिद्ध स्थान हैं, जिनमें नाथद्वारा उदयपुर से इस विषय में बढ़कर है। राजाओं के महलों, गृहस्थों की हवेलियों आदि में, दीवारों तथा कई मन्दिरों की छतों और गुम्बजों में समय-समय के भिन्न-भिन्न चित्राङ्कण देखने में आये हैं।

संगीत—संगीत में गीत (गाना), वाद्य (बजाना) और नाट्य (नाचना) का समावेश होता है। मेवाड़ के राजाओं के यहाँ गाने और बजाने की चर्चा ठेठ से चली आती है और

उसके लिये अच्छे-अच्छे गवैये नौकर रहते हैं। नृत्य, नाटकों में होता था और स्त्रियाँ भी नाचती थीं। भारत में राजकुमारियों को संगीत की शिक्षा देने के लिये पुराने उदाहरण मिलते हैं। शिव का ताँडव नृत्य तो प्रसिद्ध ही है।

महाराणा कुम्भा संगीत में बड़ा निपुण था। उसने संगीत-राज और संगीत मीमाँसा नाम के दो ग्रन्थों की रचना की थी, और उसकी बनाई हुई जयदेव के संगीत के ग्रन्थ गीत-गोविन्द और शारङ्गदेव के संगीत रत्नाकर की टीकाएँ उपलब्ध हुई हैं। एकलिङ्ग माहात्म्य के अन्त में अलग-अलग देवताओं की स्तुतियों का एक अध्याय है, जिसकी रचना महाराणा कुम्भा ने अलग-अलग रागों में की थी और प्रत्येक स्तुति में उस (कुम्भा) का नाम आता है। इससे स्पष्ट है कि कुम्भा संगीत का अच्छा ज्ञाता और प्रेमी था। महाराणा संग्रामसिंह (सांगा) के ज्येष्ठ कुँवर भोजराज की स्त्री मीराँबाई संगीत में बड़ी निपुण थी। उसके रचे हुए भजन व पद अब तक भारत में प्रसिद्ध हैं, इतना ही नहीं किन्तु उसका बनाया हुआ 'मीराँबाई का मलार' नामक राग भी अब तक प्रचलित है। मेवाड़ में संगीतवेत्ताओं का सदा आदर रहा और कई अच्छे-अच्छे गवैये राज्य में नौकर रहते चले आ रहे हैं। प्रसंग-प्रसंग पर राजा लोग उनका गान श्रवण कर अपना दिल बहलाव करते आ रहे हैं। बड़े-बड़े सर-दारों के यहाँ भी ऐसा ही होता चला आ रहा है।

शिव का ताण्डव नृत्य उद्धत माना गया, परन्तु पार्वती का मधुर एवं सुकुमार नृत्य 'लास्य' नाम से प्रसिद्ध रहा। पर्दे की प्रथा के साथ-साथ स्त्रियों में नृत्य-कला की अवनति होती गई, परन्तु राजाओं की राणियों से लगा कर साधारण लोगों की स्त्रियाँ तक विवाह आदि शुभ अवसरों पर अपने-अपने

स्थानों में नाचती हैं। किन्तु उनका नृत्य प्राचीन शैली के अनुसार नहीं। अब तो उसकी प्राचीन शैली दक्षिण के तञ्जौर आदि स्थानों में तथा कहीं कहीं अन्यत्र ही पाई जाती है।

पाठ १४

दीनों पर प्रेम

हम नाम के ही आस्तिक हैं। हर बात में ईश्वर का तिरस्कार करके ही हमने 'आस्तिक' की ऊँची उपाधि पाई है। ईश्वर का एक नाम 'दीनबन्धु' है। यदि हम वास्तव में आस्तिक हैं, ईश्वर-भक्त हैं, तो हमारा यह पहला धर्म है कि दीनों को प्रेम से गले लगावें, उनकी सहायता करें, उनकी सेवा करें, उनकी शुश्रूषा करें। तभी न दीनबन्धु ईश्वर हम पर प्रसन्न होगा! पर ऐसा हम कब करते हैं? हम तो दीन-दुर्बलों को ठुकरा-ठुकरा कर ही आस्तिक या दीनबन्धु भगवान् के भक्त आज बने बैठे हैं। दीनबन्धु की ओट में हम दीनों का खासा शिकार खेल रहे हैं। कैसे अद्वितीय आस्तिक हैं हम! न जाने क्या समझ कर हम अपने कल्पित ईश्वर का नाम दीनबन्धु रखे हुए हैं, क्यों इस रद्दी नाम से उस लक्ष्मी-कान्त का स्मरण करते हैं—

दीननि देखि घिनात जे, नहिं दीनन सों काम।
कहा जानि ते लेत हैं, दीनबन्धु कौ नाम॥

यह हमने सुना अवश्य है, कि त्रिलोकेश्वर श्रीकृष्ण की मित्रता और प्रीति सुदामा नाम के एक दीन दुर्बल ब्राह्मण से

थी। यह भी सुना है, कि भगवान् यदुराज ने महाराज दुर्योधन का अतुल आतिथ्य अस्वीकार कर बड़े प्रेम से ग़रीब विदुर के यहाँ साग-भाजी का भोग लगाया था। पर यह बातें चित्त पर कुछ बैठती नहीं हैं। रहा हो कभी ईश्वर का दीनबन्धु नाम, पुरानी सनातनी बात है, कौन काटे? पर हमारा भगवान्, दीनों का भगवान् नहीं है। हरे हरे! वह उन घिनौनी कुटियों में रहने जायगा? वह रत्न-जटित स्वर्ण-सिंहासन पर विराजने वाला ईश्वर, भुक्खड़ कंगालों के फटे-कटे कम्बलों पर बैठने जायगा? वह मालपुआ और मोहन-भोग आरोगने वाला भगवान् उन भिखारियों की रूखी-सूखी रोटी खाने जायगा? कभी नहीं हो सकता। हम अपने बनवाये हुए विशाल राज-मन्दिरों में उन दीन-दुर्बलों को आने भी न देंगे। उन पतितों और अछूतों की छाया तक हम अपने खरीदे हुए ख़ास ईश्वर पर न पड़ने देंगे। दीन-दुर्बल भी कहीं ईश्वर भक्त होते सुने हैं? ठहरो, ठहरो, यह कौन गा रहा है? ठहरो, ज़रा सुनो। वाह! तब यह खूब रहा!

मैं ढूँढ़ता तुझे था जब कुञ्ज और वन में,
तू खोजता मुझे था तब दीन के वतन में।
तू आह बन किसी की मुझको पुकारता था,
मैं था तुझे बुलाता संगीत में, भजन में॥

तो क्या हमारे लक्ष्मीनारायणजी "दरिद्र नारायण" हैं? इस फ़क़ीर की सदा से तो यही मालूम हो रहा है। तो क्या हम भ्रम में थे? अच्छा, अमीरों के शाही महलों में वह पैर भी नहीं रखता!

मेरे लिये खड़ा था दुखियों के द्वार पर तू,
मैं बाट जोहता था तेरी किसी चमन में!

हज़रत खड़े भी कहाँ होने गये।

> बेबस गिरे हुओं के तू बीच में खड़ा था,
> मैं स्वर्ग देखता था झुकता कहाँ चरन में ?

तो क्या उस दीनबन्धु को अब यही मंज़ूर है कि हम अमीर लोग, धन-दौलत को लात मार कर उसकी खोज में दीन-हीनों की झोंपड़ियों की ख़ाक छानते फिरें ?

दीन-दुर्बलों को अपने असह्य अत्याचारों की चक्की में पीसने वाला धनी परमात्मा के चरणों तक कैसे पहुँच सकता है ? धनान्ध को स्वर्ग का द्वार दीखेगा ही नहीं। महात्मा ईसा का यह वचन क्या असत्य है—

"यदि तू सिद्ध पुरुष होना चाहता है, तो जा, जो कुछ धन-दौलत तेरे पास है, वह सब बेचकर कङ्गालों को दे दे। तुझे अपना ख़ज़ाना स्वर्ग में सुरक्षित रखा मिलेगा। तब, आ और मेरा अनुयायी हो जा। मैं तुमसे सच कहता हूँ, कि धनवान् के स्वर्ग के राज्य में प्रवेश करने की अपेक्षा ऊँट का सुई के छेद में से निकल जाना कहीं आसान है।" सहजोबाई भी यही बात कह रही है:—

> "बड़ा न जाने पाइ है, साहिब के दरबार।
> द्वारे ही सूँ लागि है, 'सहजो' मोटी मार॥

किसानों और मज़दूरों की टूटी-फूटी झोंपड़ियों में ही प्यारा गोपाल वंशी बजाता हुआ मिलेगा। वहाँ जाओ और उसकी मोहिनी छवि निरखो। जेठ-बैसाख की कड़ी धूप में मज़दूर के पसीने की टपकती हुई बूँदों में उस प्यारे राम को देखो। दीन-दुर्बलों की निराशा भरी आँखों में उस प्यारे कृष्ण को देखो। किसी धूल-

भरे हीरे की कनी में उस सिरजनहार को देखो। जाओ पतित पद-दलित अछूत की छाया में उस लीला विहारी को देखो।

तुम न जाने उसे कहाँ खोज रहे हो? अरे भाई यहाँ वह कहाँ मिलेगा? इन मन्दिरों में वह राम न मिलेगा? इन मसजिदों में अल्लाह का दीदार मुश्किल है? इन गिरजों में कहाँ परमात्मा का वास है? इन तीर्थों में वह मालिक रमने का नहीं। गाने-बजाने से भी वह रीझने का नहीं। अरे, इन सब चटक-मटक में वह कहाँ? वह तो दुखियों की आह में मिलेगा, ग़रीबों की भूख में मिलेगा, दीनों के दुःख में मिलेगा। सो वहाँ तुम खोजने जाते नहीं, यहाँ व्यर्थ फिरते हो।

दीनबन्धु का निवास-स्थान दीन-हृदय है। दीन-हृदय ही मन्दिर है, दीन-हृदय ही मसजिद है, दीन-हृदय ही गिरजा है। दीन-दुर्बल का दिल दुखाना ही भगवान् का मन्दिर ढहाना है। दीन को सताना सब से भारी धर्म विद्रोह है। दीन की आह समस्त धर्म-कर्मों को भस्मसात् कर देने वाली है। सन्तवर मलूकदास ने कहा है—

"दुखिया जनि कोई दूखिये, दुखिये अति दुःख होय।
दुखिया रोइ पुकारि है, सब गुड़ माटी होय॥"

दीनों को सता कर उनकी आह से कौन मूर्ख अपने स्वर्गीय जीवन को नारकीय बनाना चाहेगा, कौन ईश्वर-विद्रोह करने का दुस्साहस करेगा? एक ग़रीब की आह भला कभी निष्फल जा जा सकती है—

"तुलसी हाय ग़रीब की, कबहुँ न निष्फल जाय।
मरे बैल के चाम सों, लोह भसम ह्वै जाय॥"

और की बात हम नहीं जानते, पर जिसके हृदय में थोड़ा-सा भी प्रेम है, वह दीन दुर्बलों को कभी सता ही नहीं सकता। प्रेमी निर्दय कैसे हो सकता है? उसका उदार हृदय तो दया का आगार होता है। दीन को वह अपनी प्रेममयी दया का सबसे बड़ा और पवित्र पात्र समझता है। दीन के सकरुण नेत्रों में उसे अपने प्रेमदेव की मनमोहिनी मूर्ति का दर्शन अनायास प्राप्त हो जाता है। दीन की मर्म भेदिनी आह में उस पागल को अपने प्रीतम का आह्वान सुनाई देता है। इधर वह अपने दिल का दरवाज़ा दीन हीनों के लिये दिन-रात खोले खड़ा रहता है, और उधर परमात्मा का हृदय-द्वार उस दीन-प्रेमी का स्वागत करने को उत्सुक रहा करता है। प्रेमी का हृदय दीनों का भवन है। दीनों का भवन दीनबन्धु भगवान् का मन्दिर है, और भगवान् का हृदय प्रेमी का वासस्थान है। प्रेमी के हृद्देश में दरिद्रनारायण ही एक मात्र प्रेम-पात्र है। दरिद्र-सेवा ही सच्ची ईश्वर सेवा है। दीन दयालु ही आस्तिक है, ज्ञानी है, भक्त है, और प्रेमी है। दीन-दुखियों के दर्द का मर्मी ही महात्मा है। ग़रीबों की पीर जानने हारा ही सच्चा पीर है। कबीर ने कहा है—

"'कबिरा' सोई पीर है, जो जानै पर–पीर।
जो पर–पीर न जानई, सो काफ़िर बे–पीर॥"

पाठ १५

अतीत स्मृति

बीहड़ वन है। सारे वन में कण्टकपूर्ण वृक्ष खड़े हैं। झाड़ियाँ इतनी घनी हैं कि पुराने मार्ग अब बन्द हो गये हैं। जङ्गल को देख कर प्रतीत होता है कि यहाँ अस्तित्व के लिये

भीषण-संग्राम (Struggle for existence) हो चुका है। उसी जङ्गल के बीच में एक स्थान पर कुछ खुली जगह है; यहाँ झाड़ियाँ नहीं हैं, एक छोटा सा गोलाकार मैदान है। उस पर हरी हरी दूब लगी हुई है; इधर-उधर एकाध छोटे पौधे भी लगे हैं। किन्तु बीच में एक बड़ा वृक्ष खड़ा है, जिसके मस्तक पर एक ही सुन्दर पुष्प खिला हुआ है। वृक्ष बहुत ऊँचा है और पुष्प, पूर्ण विकसित होने पर भी, पूरा खिला हुआ नहीं है; मानों उच्च स्थान पर स्थित होने के कारण सकुचा सा रहा है। उस पुष्प से एक अतीव मनोहारी भीनी-भीनी सुगन्ध बह रही है। इस सुगन्ध से वह स्थान ही नहीं, सारा जङ्गल सुवासित हो रहा है। उस जंगल में प्रवेश करते ही वह सुवास प्रत्येक पथिक तक पहुँच जाती है, और एक अज्ञात-शक्ति-बल से वह उस स्थान तक खिंचा चला जाता है। परन्तु उस स्थान विशिष्ट तक पहुँचने में उसे कई कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। मार्ग में घनी झाड़ियों को उल्लङ्घन करके, उनसे बच कर ही वहाँ पहुँच पाता है। किन्तु इन सब कठिनाइयों का पथिक को पता नहीं लगता है, क्योंकि ज्योंही वह सुवास नासिका द्वार से मस्तिष्क तक पहुँचती है, एक अपूर्व मादकता उस पर छा जाती है। जिस प्रकार मधुर सङ्गीत सुनने को मृग दौड़ा चला जाता है, और उसे यह नहीं मालूम होता कि मैं अपनी मृत्यु के द्वार की ओर बढ़ा जा रहा हूँ, उसी प्रकार उस मादकता के छाते ही पथिक को यह नहीं भान रहता कि उस सुवास के दाता पुष्प तक पहुँचने का मार्ग कण्टक-पूर्ण है। अन्त में उस स्थान पर जाकर पथिक लेट जाता है; और जब तक तृप्ति नहीं होती, तबतक वह मादकता नहीं हटती है। वह बेहोशी की हालत में पड़ा हुआ सुवास का आनन्द उड़ाया करता है। कण्टकाकीर्ण जङ्गल में उस निष्कण्टक स्थान को देख कर यह प्रतीत होता है कि

उस सुन्दर पुष्प और उसकी सुवास ही के कारण वहाँ कोई झाड़ी नहीं रहने पाई है।

× × × ×

बहुत दिन बीत गये। समय के प्रभाव से वह पुष्प सूख कर झड़ गया; वह वृक्ष भी जरावस्था को प्राप्त होकर नष्ट हो गया। इसी समय एक माली आया। वह अपने को चतुर बताता है, उसने उस बीहड़ वन को एक सुन्दर सुरम्य उद्यान में परिवर्त्तन करने का प्रयत्न किया है, और इस कार्य में वह कहाँ तक सफल हुआ है, यह हम नहीं कह सकते ? हाँ, जहाँ पहिले मार्ग भी बन्द हो गये थे, जाने को राह नहीं थी, वहाँ अब लम्बी चौड़ी सड़कें हो गई हैं। जहाँ सारे वन में एक प्रकार की अराजकता थी—जहाँ प्रकृति की इच्छा हुई, वहीं एक वृक्ष निकल आया, चाह वह मार्ग हो या अन्य कोई स्थान, वहाँ अब सारे वन में एक प्रकार का क्रम पाया जाता है। माली ने प्रकृति को नियम-बद्ध किया है, और उसे भी अपनी इच्छानुसार चलाना चाहता है। पुराने कण्टक-पूर्ण वृक्षों को उखाड़ कर फेंक दिया, कई को कलम करके दूसरा ही बना दिया; अपने पिटारे में से नवीन बीज निकाले और उन्हें बोकर, कई नये वृक्ष उगा दिये। कई प्रकार के रंग-विरंगे पुष्प खिले हैं, जिन्हें देखते ही एक विचित्र दृश्य दृष्टिगोचर होता है। इन पुष्पों में भी कुछ सुगन्ध है।

पर आह ! यह क्या ? जो पुष्प उस बीहड़ वन में खिला था, उसकी सुरभि अब तक फैल रही है। समय के साथ वह मुरझा गया और सूख कर झड़ गया। समय ने उसे नष्ट कर दिया, किन्तु उसकी सुवास को वह नष्ट नहीं कर सका। माली ने भी प्रयत्न किया कि इस उपवन में ऐसे वृक्ष लगाऊँ जिनके पुष्पों की सुगन्ध उस पुष्प की सुवास से भी अधिक मोहक हो। अनेक

बार यत्न भी किया और प्रत्येक बार सोचता भी था, कि आगामी बार तो अवश्य सफल हूँगा।

एक दिन एक पथिक उस वन में से जा निकला; उसी पुरानी सुवास से उस पर मादकता छा गई, वह खिंचा हुआ एक दिशा में जाने लगा। तन, मन का सब ध्यान भूल गया। एकाएक उसे किसी ने रोका, वह चौंक पड़ा।

"कई पौधे रौंद डाले, मार्ग छोड़ कर चल रहे हो? क्या सारा उपवन उजाड़ने का इरादा किया है?"

"नहीं, माली! मैं कुछ नहीं जानता हूँ। एक प्रकार से, जब तक तुमने मुझे नहीं रोका, मैं बेहोश था।"

"क्या कोई नशा पिया है?"

"नशा! मैं किसी भी मादक वस्तु का व्यवहार नहीं करता। एक मनोहर सुवास आई थी, उसी के उद्गम को ढूँढ़ रहा हूँ। बड़ी ही मादक सुगन्ध है। वह वृक्ष कहाँ है, जिसके पुष्प ऐसी सुगन्ध फैला रहे हैं? तुम बड़े ही चतुर माली जान पड़ते हो!"

माली सगर्व बोला—"आओ, पथिक! कई नये नये वृक्ष मैंने इस उपवन में लगाये हैं, उनका इस उपवन में पता भी नहीं था। उनके पुष्प कैसे सुन्दर और सुगन्धित हैं, सो ज़रा देखो तो सही। देखो, यह एक प्रकार का सुन्दर पौधा है।"

"नहीं, वह सुगन्ध इसकी नहीं है।"

"शायद इसकी हो।"

"नहीं भाई, वह तो दूसरे ही प्रकार की थी।"

"अच्छा उधर चलो। वहाँ भी कई वृक्ष मेरे लगाये हुए हैं, सम्भव है उनमें से किसी को सुगन्ध ने तुमको मोहित कर लिया

हो। यह एक प्रकार का है, उधर वे दूसरी प्रकार के हैं। मैंने ही इनके बीज यहाँ प्रथम बार बोये थे।"

"नहीं माली, तुम्हारे पुष्प सुन्दर, रंग-बिरंगे अवश्य हैं, किन्तु सुगन्ध तो उनमें नाम मात्र को भी नहीं है। जिस मादकता पूर्ण सुगन्ध के कारण मैं यहाँ खिंचा चला आया हूँ, उसका अणुमात्र भी इनमें नहीं पाया जाता है। ओह! कैसी सुगन्ध है। हृदय यह जानना चाहता है कि जिसकी सुगन्ध ऐसी है, वह पुष्प कैसा होगा?"

कुछ देर के बाद पुनः पथिक बोला—"माली! अब मुझे ही ढूँढ़ने दो। पुनः मुझ पर उस सुगन्ध के कारण मादकता छाने लगी है। वह सुवास इस वायु-मण्डल में विद्यमान् है। अतः मैं उसे ढूँढ़े बिना नहीं रहूँगा। मुझे मत रोकना, अगर आना चाहो तो तुम भी मेरे पीछे चले आना।"

माली अब ताड़ गया कि मैं पुनः विफल हुआ। वह जानता था कि पथिक किस सुवास की बात कर रहा है। एक बार और विफल होने के कारण वह खिन्न होकर पथिक के पीछे चलने लगा और अन्त में उसी स्थान पर पहुँच गया, जहाँ पहिले उस सुन्दर पुष्प को धारण किये वह वृक्ष खड़ा था। पहिले वहाँ जो दूब थी, वह स्वाभाविक ही छोटी छोटी थी; जो अब है वह भी वैसी ही सुन्दर तथा छोटी है, किन्तु यह बात स्पष्ट है कि वहाँ काँट-छाँट अवश्य की गई है। अब भी गोलाकार मैदान बना है, किन्तु अपनी स्वाभाविक झाड़ियों द्वारा परिमित न रह कर कंगूरों द्वारा नियमित है। पुनः जहाँ पहले वृक्ष खड़ा था, वहीं एक फ़व्वारा लगा है और उसके विभिन्न मुखों से विभिन्न रंगों की धाराएँ निकल रही हैं!

पथिक झूमता-झामता वहाँ पहुँचा और कँगूरे की ठोकर खाकर गिर पड़ा। कुछ देर बाद उठा और मतवाला सा, लड़-खड़ाता हुआ उस फ़व्वारे की ओर चला। माली कुछ दूरी पर खड़ा हुआ स्तब्ध होकर पथिक की दशा देख रहा था। एकाएक पथिक को फ़व्वारे की ओर जाते देख कर माली भविष्य की आशंका से चौंक पड़ा और उसकी ओर दौड़ा; पर पथिक पहुँच चुका था; वह उस फ़व्वारे के पास जाकर नीचे बैठ कर झुक गया, मानो वह उसके पद छू रहा हो। पर आह! उस फव्वारे से निकलने वाली रंग-बिरंगी धाराओं का कुछ पानी पथिक के शरीर पर गिरा। वह एकाएक उछल पड़ा और "आह!" करके पास ही दूब पर लेट गया। अभी माली आही रहा था दौड़ कर देखा, किन्तु पथिक पर जलक्षार अपना कार्य कर चुका था, और वह व्यथा से पीड़ित था।

"तुमने यह क्या किया?"

"यही उस सुगन्ध का उद्‌गम है। अतः मैं उस वृक्ष को नमन कर रहा था।"

"नहीं, पथिक! तुम्हें भ्रम हो रहा है। यह बात सत्य है कि बहुत काल पहले यहाँ एक वृक्ष था और उसमें एक पुष्प खिला था। यहाँ आते ही प्रारम्भ में मुझे उसका कुछ कुछ भान हुआ था। पर उसे बहुत काल बीत गया, वह पुष्प सूख गया, झड़ गया और उस वृक्ष का भी अब पता नहीं है। उसी स्थान पर मैंने अब एक फ़व्वारा लगाया है और उसमें से मैं, अपने रसायन-शास्त्र के ज्ञान से, भिन्न-भिन्न रंगों की धाराएँ प्रवाहित करता हूँ। मित्र और सम्बन्धी जब यहाँ आते हैं, तो वे यह दृश्य देख कर मुग्ध हो जाते हैं। किन्तु जो जल इसमें से प्रस्फुटित होता है। वह हानिकारक है। यदि यह शरीर पर गिर जाय तो

मनुष्य के लिये घातक होता है। मैं नहीं जानता था, आशंका तक न थी, कि तुम यहाँ पहुँच कर अपनी यह दशा कर लोगे।"

पथिक की दशा बिगड़ रही थी, वह साहस करके बोला—"क्या वह वृक्ष सूख गया ? नष्ट हो गया ?"

"हाँ बहुत काल पहिले ही नष्ट हो गया था।"

"तो क्या तुम उसी श्रेणी का और कोई वृक्ष नहीं लगा सकते ?"

"नहीं पथिक मेरे पास उस वृक्ष के बीज नहीं हैं। मैं यह भी नहीं जानता कि वह कौन सा वृक्ष था और उसका बीज कहाँ मिल सकता है ?"

"तो अब हमारे लिये केवल उसकी, उसके उस पुष्प की सुगन्ध ही रह गई है। क्या वही उसकी एक 'अतीत-स्मृति' है ?"

"हाँ।"

"तो वैसे वृक्ष के बिना तुम्हारा यह सारा उद्यान सूना है, तुम्हारे प्रयत्न व्यर्थ हैं। तुमने एक बोहड़ बन को सुन्दर उद्यान में परिवर्तित किया है, किन्तु आज उस वृक्ष से रहित यह उद्यान, उस काल के तथा उस वृक्ष के समाधि-स्थान ही के समान है। माली ! अगर अधिक न हो, वैसा वृक्ष तुम न लगा सको, तो उसकी वह 'अतीत स्मृति' तो न मिटाना !"

पाठ १६

अन्तर्नाद

देवि चाटुकारिते—कमलिनी-कुलवल्लभ भगवान् भुवन भास्कर के प्रचण्ड प्रकाश में अथवा राकेश की शुभ्र ज्योत्स्ना में जहाँ देखो तेरी सत्ता का आभास दृष्टिगोचर होता है। देवि! तेरी अपार शक्ति की दुहाई देश देशान्तरों में फिर चुकी है। आज तेरा प्रतिद्वन्दी विरला ही कोई निकलेगा। तेरी मोहिनी में वह जादू है जो चढ़ कर बोले; तेरे हाव-भाव पर मनुष्यों की क्या देवता तक लट्टू हो जाते हैं। अतः हे सर्व शक्तिमती देवि? तुझे साष्टाँग प्रणाम है।

देवि! तेरा क्रीड़ा-स्थल कलियुग है। यदि देश के सौभाग्य से दासता का जोड़ा तुझसे मिल जाय तो फिर सर्वत्र तू ही है। आत्माभिमानियों के अभिमान को तू ही तोड़ सकती है। आत्माभिमान की आराधना करते हुए जो तुझसे विरोध करते हैं, उन्हें तू समुचित दण्ड देती है। तुझसे विरोध करने वाले यदि अनेक आपत्तियों में पड़े रहें तो इसमें आश्चर्य ही क्या? पहिले तो अभिमान करना यही पर्याप्त रूप से दण्डनीय है, फिर कोरा अभिमान ही नहीं आत्माभिमान, और वह भी तुझसे विरोध करते हुए। भगवान् तक तो अभिमान सह नहीं सकते। देवि! ऐसे विद्रोहियों को कठोरतम दण्ड देना चाहिये। ये लोग सामयिक नीति की अवहेलना करते हैं; तेरे साम्राज्य में रह कर तेरा ही तिरस्कार करते हैं। ये लोग विद्रोही हैं, विप्लवकारी हैं, 'जैसा देश वैसा भेष' के अनुसार न चलने वाले अदूरदर्शी हैं और हठवादी हैं। तेरी आराधना रूपी कोमल कुसुम में ये कण्टक हैं। इनका दमन करना तेरे लिये सर्वथा न्याय संगत है।

देवि ! सतयुग, त्रेता आदि युगों में बैठे ठाले निठल्लों ने तमाम गुण गिना डाले हैं, परन्तु तेरा कहीं नाम तक नहीं लिया। तेरी महिमा को वे बेचारे समझ ही क्या सकते थे। 'मुल्ला की दौड़ मसजिद तक' बहुत बढ़े तो 'शील' को सबसे बड़ा गुण कह कर रह गये। आधुनिक विद्याधारी सरस्वती के सच्चे सपूत तेरे महत्त्व को पूर्णतया जानते हैं। उनसे कोई पूछ कर देखे कि सबसे बड़ा गुण कौन है ? वे शीघ्र तेरा ही नाम ले देंगे। तेरी महत्ता का ध्यान उन्हें जागते-सोते सदा बना रहता है। वास्तविकता अधिक समय तक छिपी भी तो नहीं रह सकती है।

पाश्चात्य प्रदेशों में विद्यार्थी के लिये अपना शिक्षण समाप्त कर लेने पर देशाटन करना आवश्यक होता था, इसके बिना उसका शिक्षण पूर्ण नहीं समझा जाता था। इसी प्रकार हे देवि ! दासत्व शृङ्खला-बद्ध भारत मही में भी सब कुछ पढ़ कर यदि तेरी कृपा प्राप्त नहीं की, तो सब पढ़ाई व्यर्थ ही है। दास देश में पढ़ाई का उद्देश्य प्रायः नौकरी ही होता है, परन्तु कितना भी पढ़ा लिखा हो, देवि, जब तक तुझ से वह प्रशंसापत्र प्राप्त न करले, तब तक कहीं टिकने की कम सम्भावना होती है, और यदि कहीं जम भी जावे तो फिर उसकी उन्नति या अवनति का कारण प्रायः तेरी कृपा ही होती है। विश्वविद्यालयों में तेरी कृपा-प्राप्ति का पर्याप्त आयोजन नहीं किया गया है। तेरा विषय भी इतना गूढ़ है कि उस पर न तो पुस्तकें लिखी जा सकती हैं, न कुछ निश्चित नियम ही बनाये जा सकते हैं। तू, तू ही है। काव्य जो एक साधारण कला है, उसके लिये दैवी प्रतिभा की आवश्यकता है। फिर तेरा महान् विषय तो उससे कहीं ऊँचा है। तेरे प्रसाद का श्रेय सर्वथा भाग्य को ही मिल सकता है।

देवि ! दासता का सुयोग पाकर तेरी शक्ति पूर्णता को प्राप्त होती है। यही कारण है कि भारत में तेरे पुजारी अधिक संख्या में हैं। तुझे अपने भक्तों से जितना प्रेम है उतना अन्य किसी से नहीं। एक बार तेरी आराधना की कि तूने निहाल कर दिया। न्याय की अकड़ तेरे पास नहीं फटकती है। तेरे सेवक कभी दुःखी नहीं रह सकते।

अतः हे देवि ! हे अभागे देश के पराधीन वायुमण्डल में सहर्ष विहार करने वाली चाटुकारिते ! तुझे शतशः प्रणाम है।

पाठ १७

तूती-मैना

(१)

किसी को मस्त और किसी को पस्त करने वाला, किसी को चुस्त और किसी को सुस्त करने वाला, कहीं अमृत और कहीं विष बरसाने वाला, कहीं निरानन्द बरसाने वाला और कहीं रसानन्द सरसाने वाला, तथा अण्डकटाह में नई जान, नई रोशनी, नई चाशनी, नई लालसा और नई-नई सत्ता का संचार करने वाला, सरस बसन्त पहुँच चुका था। नव पल्लव-पुष्प गुच्छों से हरे-भरे कुञ्ज-पुञ्जों में बसन्त-बसीठी मीठी-मीठी बोली बोलती और विरह में विष घोलती थी। मधुर-मधुमयी माधवी-लता पर मँडराते हुए मकरन्द-मत्त मधुकर, उस चराचर मात्र में नूतन शक्ति सञ्चालन करने वाले जगदाधार का गुन-गुन कर गुण गाते थे। लोनी लतिकाएँ सूखे-रूखे वृक्षों से भी लिपट रही थीं। बसन्त-वैभव ने उस वन को विभूतिशाली बना दिया था।

उसी सघन वन में, नव-किसलय से सुशोभित, एक अशोक वृक्ष तले, एक सजीव सुषमा की सौम्य-मूर्ति, लहलही लता सी तन्वी, सरल-तरल दृष्टि वाली, कोई कान्तिमयी कान्ता, खड़ी खड़ी, मल्लिका-बल्लरी-वितानों के भीतर कबूतरों की क्रीड़ा एवं अलि-अवलि-केलि-लीला देखकर, चकित हो, चिबुक पर तर्जनी अँगुली रख कर, मन्द-मन्द मुसकानों की लड़ियाँ गूँथ रही थी। मंजुल-मंजरी-कलित तरु की शाखाओं पर, शान से तान कर तीर मारने वाली, काली-कलूटी कोयल, पल्लवावगुराठन में मुँह छिपाये बैठी हुई, इस अनुरूपा सुन्दरी को देख रही थी। शीतल सुरभित समीर विलुलित अलकावलि तीर डोल-डोल कर रस घोल जाता था। चञ्चल पवन अञ्चल पर लोट-लोट कर अपनी विकलता बताता था। धीरे लहराती हुई कालिन्दी की लहरों के सदृश, चढ़ाव-उतराव वाली श्याम-सुचिक्कण कुञ्चित कुन्तलराशि नितम्बारोहण करती हुई, आपादं लटक रही थी। यद्यपि निराभरण शरीर पर केवल एक सामान्य वस्त्र ही शेष था; तथापि वह शैवाल जाल-जटित सुन्दर सरोजिनी-सी सोहती और मन मोहती थी। नैनसुख की धोती ही नयनों को सुख देती थी। रूप-रङ्ग में अप्रतिभ होने के कारण अथवा लाड़-प्यार किम्बा संसार से बिलग रहने से न जाने क्यों—उसके "तूती-मैना" आदि कई एक जङ्गली नाम पड़े थे। जैसे जन-शून्य वनस्थली में बहुरंगे सुरभित सुमन खिल-खिल कर अछूत और अजात ही रह जाते हैं, उसी तरह वह मञ्जुभाषिणी सुहासिनी भी उस वन में दिन बिता रही थी।

फूलों को चुन-चुन कर माला गूँथना, कँगना बनाना, बाजूबन्द बनाना, अपने रेशम के से मुलायम बालों में फूलों की कलियाँ गूँथना, हरिणियों की देह पर धीरे-धीरे हाथ फेरते रहना, कान देकर पक्षियों का गाना सुनना और नदी से कलसी

में जल भर कर द्रुम गुल्म-लतादिकों को सींचना—ये ही उसके नित्य के कृत्य थे। जब वह गङ्गा में कलसी भरने जाती, तब मुकुरोज्ज्वल मन्दाकिनी में अपनी परछाईं देख कर, अपनी सुन्दरता पर आप ही मुग्ध होकर मुस्कराने लगती थी। कभी कभी शून्य स्थान में स्वच्छन्द विहार करने वाले पक्षियों और भ्रमरों को किलोलें करते देख कर उसके मन में यौवन-मद-जनित एक प्रकार का मनोविकार-सा उदय हो आता था। किन्तु वह उससे प्रभावान्वित नहीं होती थी। एक तो कोमल-कमल-कलिका-सी सुकुमारी, दूसरे त्रिवली-सोपान द्वारा मन्मथ-महेन्द्र का क्रमशः आरोहण और तीसरे एकान्त बसन्त-वेष्टित वन में वास—सब कामोद्दीपक सामग्रियाँ, जहाँ अहर्निशि आँखों के सामने खेल-खेल कर रिझा रही थीं, वहाँ भला चपला-चञ्चल तारुण्य से आक्रान्त अबला का निवास कैसा कष्ट-कर था! कभी-कभी रुचिर रश्मि-राशि राकेश के सुधा-सिक्त किरण-कन्यकाओं को पार्श्ववर्त्तिनी पुष्करिणी के स्फटिकोपम जल-वक्षःस्थल पर थिरकते हुए देखकर यों ही मुस्करा उठती थी। जब वह कबूतरों को गोद में ले कर प्रेम-पूर्वक चूमने चाटने लगती थी, तब वे स्निग्ध-कर-स्पर्श-जन्य अद्भुत सुख का अनुभव करते हुए, गोद में सट कर, पुलक-पल्लवित शरीर को फुलाकर, आनन्दोत्फुल्ल अर्द्धोन्मीलित नयनों से, मृगनयना मैना के सुधाधरोपम मुखड़े की ओर देखते हुए, उसकी पतली-पतली और नन्हीं-नन्हीं कोमलारुण अँगुलियों को चोंच में लेकर, धीरे-धीरे पीने लगते थे।

(२)

वनान्त-प्रदेश-वासी राजा राजीव-रञ्जन प्रसाद सिंह के प्रिय दत्तक पुत्र शशिशेखर कुमार घोड़े पर सवार होकर, मृगया खेलने उसी वन में आये हुए थे। किशोरावस्था थी, निडर और ढीठ थे, घोड़ा मानों हवा से बातें करने वाला था, इसीसे

शायद उसका नाम 'पलीता' रखा गया था। उसकी सजावट, तेज़ी और डील-डौल देख कर देखने वाले दाँतों तले अँगुली दबा लेते थे। कुमार साहब उसी अशोक के पास पहुँच गये, जहाँ वही शान्तोज्ज्वल स्मित-विकसित मुखड़ा चतुर्दिक् आनन्द की वृष्टि कर रहा था। वह भुवन-मोहन रूप देखते ही कुमार का मन निहाल हो गया। घोड़े से उतर मन ही मन सोचने लगे कि—"नैवं रूपा मया नारी दृष्टि पूर्वा मही तले !"—"लोचन लाहु हमहिं विधि दीन्हा"—कुमार किंकर्त्तव्य विमूढ़ हो गये। जिन्होंने कभी गजेन्द्र-कुम्भ-विदारक मृगेन्द्र का भी, बिना मारे पीछा न छोड़ा था, उसी कुमार का कड़ा कलेजा, एक सौकुमार्य्य-पूर्ण सुन्दरी को देखते ही मोम हो गया। जो कुमार अपनी दपट की झपट से छलाँग मारते हुए केसरी-किशोर को तत्क्षण भूमि-शायी कर देते थे, वे ही वीर कुमार उस वामाक्षी को देख कर एक बात भी नहीं बोल सके—निरे अवाक् रह गये। किसी तरह धैर्य्य-धारण कर कुछ कुछ लड़खड़ाती हुई जुबान से बोले—"हे शुचि स्मिते ! तुम किन-किन अक्षरों को पवित्र करती हो ? किस शुभ देश से तुम्हारा वियोग हुआ है ?

कुमार के प्रश्नों का उत्तर न मिला। विशाल-लोल-लोचनों से दो चार बूँद आँसू टपक पड़े। मानों 'मान-सरोवर' के रुचिर 'राजीव' से हंस द्वारा सञ्चित 'मोती' झरते हों। क्यों ? "सो सब कारण जान विधाता।"

कुमार को, आँसू टपकते देख कर, बड़ा पश्चाताप हुआ। उससे उसके रोने का कारण पूछने का उन्हें साहस न हुआ। उन्होंने सोचा कि "नाम-धाम पूछने का तो यह नतीजा हुआ; दुबारा कुछ पूछने से न जाने क्या-क्या गुल खिलेंगे ?" अभी तो थोड़ी देर हुई कि हास्य-मुक्तामाला से मुख-मण्डल मण्डित था। न

जाने क्यों अब अश्रु-बिन्दु-मुक्तावली गूँथ कर स्वपद-तलस्थ-मृदुल दूर्वादलों का मण्डन करने लगी। हाँ, जो दूर्वादल उसके शयन करने के लिये मृदु शय्या बन कर उसे सुख देते हैं, 'उन वन्य शष्यों का मूल-सिञ्चन उसके लिये क्या कोई अनुचित काम है?' यही सोचते सोचते कुमार "कहि न सके कछु चित-वत ठाड़े।"

थोड़ी देर सँभल कर एक ओर बड़े ज़ोर से दौड़ पड़े। फिर कुछ ही देर में, एक पलास के दोनों में वन्य कन्द-मूल-फल ले आ कर तूती के सामने रख दिये। कमल के पत्ते को चारों ओर से चुन कर, कुश से उसका मुँह बाँध कर, कमण्डल बनाया और उसी में पास ही की नदी से थोड़ा जल लाये। परन्तु "प्रेम-विवश मुख आव न बानी", साहस पर भार देकर बोले,—"देवि! तुच्छ आथित्य स्वीकार करो।"

सौन्दर्य्य में बड़ी विलक्षण विद्युत-शक्ति है। जिसके सामने दास गण सदैव हाथ बाँधे खड़े खड़े मुँह जोहते रहते हैं, जो प्रचुर-प्रजा-मण्डली का भावी शासक है, उस समर्थशाली नृप-नन्दन को भी क्षणमात्र में सौन्दर्य्य ने कैङ्कर्य्य सिखा दिया।

× × × ×

ठीक है, यदि सौन्दर्य्य में ऐसी अद्भुत आकर्षण शक्ति न होती, तो मत्स्योदरी का नाम योजन-गन्धा कैसे होता? नारद के समान विरागी भजनानन्दी व्याकुलता की पराकाष्ठा तक क्यों पहुँचते? बेचारे राक्षस अमृत के बदले मदिरा क्यों पी लेते? उर्वशी भला 'नारायण' के बदले 'पुरुखा' का नाम लेकर क्यों स्वर्ग-च्युत होती? सूर्पणखाँ को अपने नाक-कान कटाने की क्या पड़ी थी? गोपियाँ लोक-लाज की तिलाञ्जलि क्यों देतीं?

रुक्मिणी खिड़की की राह से कृष्ण को प्रेम-पत्र क्यों भेजती ? ऊषा की सखी चित्रलेखा अपनी चित्र-कला-कुशलता का परिचय कैसे देती ? मानिनी राधिका की पैरों की महावर नन्द-नन्दन के माथे का तिलक कैसे होती ?

(३)

एक अपरिचित मनुष्य के सामने तूती कन्द-फल-दल-जल, कुछ भी, न छू सकी। लज्जावनत-मुखी होकर सरलता-पूर्वक बोली—"तब तक इस चटाई पर बैठिये, पिताजी बाहर से आते होंगे।" तूती की वाणी सुन कर राजकुमार की दक्षिण भुजा और आँख फड़क उठी। उस चटाई पर बैठ कर कुमार मखमली गद्दी का गुद-गुदा अनुभव करने लगे। वे सोच रहे थे कि--

"कहत मोहिं लागत भय, लाजा।
जो न कहौं बड़ होइ अकाजा॥

कुमार की सांसारिक कुवासनाओं में तूती प्रेम की सी अलौकिक पवित्रता और क्षमता नहीं थी। जिस प्रकार गङ्गा में मिल कर कर्मनाशा भी शुद्ध हो गई, उसी प्रकार तूती की सरलता सुरसरी में कुमार की कुवासना-कर्मनाशा मिल कर निर्मल हो गई। उनकी इच्छा थी कि—"हमारे तमाच्छन्न हृदय में इसी छवि-दीप-शिखा का उजाला होता, इसी बाहुलता की सघन छाया में हमारा प्राण-पथिक विश्राम करता, इन्हीं अधर-पल्लवों की ओट में हमारा प्राणपखेरू छिप कर शान्ति पाता और इसी स्वर्गीय सौन्दर्य्य-सुधा का एक घूँट पी कर हम अमरत्व लाभ करते।" किन्तु कुमार की कलुषित कामना कुण्ठित हो गई! तूती का सारल्य उनकी कामना पर विजयी हुआ। नीच जल-बिन्दु भी जैसे कमल-दल के संयोग से मुक्ता-

फल की सी श्री धारण करता है, राजस-सुख के उपासक कुमार का चित्त सात्त्विक सुख का अनुभव करते-करते वैसे ही धवलित हो गया।

प्रेमोन्मत्त मधुप कमलिनी को इतना रिझाता है कि, वह अपने दिल के सब पर्दे खोल कर भौंरे को भीतर बुला कर, अनेक स्निग्ध सुगन्ध-मय आवरणों के अन्दर छिपा लेती है। वह चाहती है कि, मेरी सुन्दरता पर अपना तन-मन-धन न्यौछावर करने वाले अनन्य प्रेमी पर अब कोई दूसरा डाही डीठ न डालने पावे।

हंस गण प्रतिदिन आते हैं, चमकीली सीपियों के स्फुटोन्मुख मुख चूम-चूम कर चले जाते हैं। सीपियाँ भी एक दिन दिल खोल कर उनके सामने मोतियों की डाली लगा देती हैं।

वंशी टेरने वाला, प्रेम में डूब-डूब कर, अपने हृदय का माधुर्य्य अधरों में भर कर, जब निभृत निकुञ्ज में सुरीली तान छेड़ने लगता है, तब हृदय-हारिणी हरिणी भी कहने लगती है:—

"चाम काटि आसन करो, माँस राँधि कै खाउ।
जब लौं तन में प्रान है, तब लौं बीन बजाउ॥"

(४)

भगवान् भास्कर संसार भर के शुभाशुभ कर्मों का निरीक्षण करके, कर्त्तव्य-परायणता का परिचय देते हुए, पश्चिमाचल की ओर चल पड़े। सन्ध्या वधू ने अपने धूसर अञ्चल से धरणी का नग्न पृष्ठ-देश ढक लिया। थोड़ी देर के बाद, ताराओं की मुक्तामाला पहन, ललाट पर चन्द्र-चन्दन की बिन्दी लगा, देवाङ्गनाओं को उज्ज्वल दर्पण दिखाती और चकोरों को चाँदनी की चाशनी चखाती हुई, राकारजनी-रमणी, आ पहुँची। उस समय

मालूम हुआ, मानो यह दुनिया ज्योत्स्ना-तरङ्ग में स्नान कर रहा है।

चटाई पर बैठे-बैठे कुमार अनुक्षण रूप-सुधा-माधुरी पान कर रहे थे। चन्द्रमा के किरण-जाल में, अपने सौन्दर्य्य सुरसरीगत मन-मीन को फँसाने की असफल चेष्टा कर रहे थे। कभी सिन्दुरिये आम और चिबुक से, कभी विकसित किंशुक कुसुम और नासिका से, कभी पक्क जम्बू-फल और कुन्तल-कलाप से कभी अनारदानों और सुशाभनदन्त-पंक्ति से, कभी पकी हुई नारंगी और देह की गौरव मयी गौरता से तथा कभी मृगशावक के आकर्ण-विस्तृत नेत्रों और तूती के तरलायत लोचनों से सादृश्य मिलाते थे। कभी कण्ठ से विद्रुम की माला निकाल कर उसमें उन कोमल अधरों की सी अरुणिमा ढूँढ़ते थे। किन्तु वह पीन घन-सजीव शोभा कहीं मिलती न थी।

एकाएक प्रेमान्ध होकर फिर कुमार ने कहा—"हे कन्दर्प-कीर्ति, लतिके! ये तेरे विषम विशिख सरीखे नयन तो शेर के शिकारियों का भी शिकार करने वाले अचूक आखेटक मालूम होते हैं?" भोली-भाली तूती कूप मण्डूक थी। उस वन्याश्रम और उस कुञ्ज कुटीर के सिवा भी कोई स्थान संसार में है, यह उसे मालूम ही नहीं था। कुमार की उक्तियाँ सुनकर सरल हँसी हँसतो हुई तूती उनका मुख निहार रह जातो थी। तूती का भोला-पन देखकर कुमार मुग्ध हुए बिना न रह सके। वे मन-ही-मन सोचते थे कि "चाहे तूती देवाङ्गना हो या वनदेवी हो, पर अपने राज्य में आई हुई सर्वोत्तम वस्तु को अब किसी दूसरे के हाथ में न जाने दूंगा। राज्य भर में जितनी उत्तमोत्तम वस्तुएँ हों, उन सबका संग्रह राजाओं को अवश्य ही करना चाहिये।

(५)

द्रुम-लताओं की ओट में छिपे-छिपे एक महात्माजी सारी प्रेम-लीला देख रहे थे। तूती की स्वाभाविक सरलता और कुमार का प्रेम देखकर हँसते-हँसते वे पूरब की ओर से प्रकट हुए। मानो आशुतोषशिव औढरदानी, तूती और कुमार के प्रेम-याग से सन्तुष्ट होकर उनके मनोरथ पूर्ण करने के निमित्त प्रकट हुए हों। महात्माजी सर्वाङ्ग में भस्म रमाये, सिर पर जटा बाँधे और हाथ में सुमरिनी लिये हुए थे। इन्होंने ही तूती को, गंगा की बाढ़ में बहते जाते हुए देख कर पकड़ा था, और चार वर्ष की अवस्था से ही, आज सोलह वर्ष की अवस्था तक, बड़े लाड़-प्यार से पाला था।

महात्माजी को देख कर तूती सहम गई। राजकुमार, चकित होकर चरणों में झुक गये। महात्माजी ने पूछा,—"तू कौन है? तेरा यहाँ क्या काम है?" राजकुमार ने हाथ जोड़ कर कहा—"महात्मन्! मैं मृगयावश इस जंगल में चला आया हूँ। एकाएक मैं आपकी कुटी की ओर निकल आया। यहाँ आने पर, मैं इस देवी को देख कर स्तम्भित हो गया। मैंने ऐसा भोला-भाला अनूठा रूप कभी देखा नहीं था। इस पर्ण-कुटी के पास आते ही, मैंने इस देवी को रोते देखा। कुछ देर पहिले यह हँस रहा थी। इसका रोना देख कर मैं अधीर हो गया। इसे भूख-प्यास के कारण रोता जानकर, मैं विमल-सलिला गंगा में से थोड़ा जल और कुछ जंगली फल ले आया। किन्तु इसने मेरा सत्कार स्वीकार नहीं किया है। इसका कारण मुझे ज्ञात नहीं। इसके सिवा मेरा कोई अपराध नहीं। अभी तक मैंने इस देवी की केवल मानसिक पूजा की है। इस अलौकिक रूप ने मुझे अपना किंकर बना लिया है। मैं इस अमूल्य रत्न का भिक्षुक हूँ। आप इस अपराध को यदि दण्डनीय समझते हैं,

तो इस अतुलनीय रूप-रत्न का याचक बन कर मैं आपका शाप भी ग्रहण कर सकता हूँ।"

राजकुमार की सच्ची बातें सुनकर महात्माजी ने कहा—हम तुम्हारे सद्भाव से सन्तुष्ट हैं। तुम राजकुमार जान पड़ते हो। तुम्हारा ब्रह्मचर्य्य-प्रदीप्त मुख-मण्डल देखकर हम प्रसन्न हैं। यह कन्या गंगा की बाढ़ में बह कर आई थी। हमने बड़े स्नेह से इसका पालन-पोषण किया है। आज हमारा स्नेह-सम्बर्द्धन सार्थक हुआ। हमारे जैसे विजन-वन-विहारी वाताम्बु-पर्णाहारी की कुटी में इसको कष्ट होता था। यह तुम्हारे राज-मन्दिर के ही योग्य है। हम हृदय से आशीर्वाद देते हैं कि यह मणि-काञ्चन संयोग सफल हो। मणि का स्थान राजमुकुट ही उपयुक्त है।

(६)

शशि-शेखर कुमार भी एक राजा के लाड़ले पुत्र ही तो थे। अकण्टक सुख से पला हुआ उनका शरीर मक्खन-सा मुलायम और चिकना था। दीर्घ भुजाएँ, चौड़ी-ऊँची छाती, चटकीला चेहरा, कसरत से कसी हुई देह और प्रशस्तोन्नत ललाट, सभी अवयव मनोहर थे। मोतियों से गुँथी सोने की गोल गोल बालियाँ कानों में पड़ी थीं। कानों तक फैले हुए नेत्र यों सोहते थे, मानों मुक्ताफल उगलती हुई सीपियों के मुख चलित-पत्र-युक्त पद्म चुम्बन कर रहे हों। तूती के योग्य ही सुवर्ण-घटित-प्रेम-पञ्जर मिल गया। सोने के पींजरे में सोने की चिड़िया बन्द हो गई।

वन के तोते जब पींजरों में बन्द होकर जन-समुदाय में आते हैं, तब पाण्डित्य प्राप्त कर अपना जीवन आदर्श बना लेते हैं। सुन्दर सरोवरों में चाहे कितने ही सुन्दर सरोज क्यों न खिलें, पर जब तक भगवान् शशिशेखर के मस्तक पर नहीं चढ़ते, तब तक उनका संसार में होना न होना दोनों बराबर रहता है।

जो वन ही में फूलते और झड़ जाते हैं, उन पुष्पों का उद्योग ही क्या है ? कण्व-कन्या यदि दुष्यन्त की हृदय-सर्वस्वा नहीं हुई होती, तो उसके अङ्क-गगन में भरत-सरीखे पुत्र-पूर्णेन्दु के दर्शन पाकर संसार किस प्रकार पुलकित होता ? 'महाकवि' का 'शाकुन्तल' ही आज क्यों संसार में सर्वोच्च आसन पाता ?

ठीक है—जिसने चन्द्रमा को बनाया, उसी ने चकोर के हृदय को प्रेम-मय बना दिया। जिसने मेघ-को श्याम-सुन्दर बनाया, उसी ने बिजली को भी व्रज-बाला बना दिया। फूल बनाने वाले ने ही भ्रमर के छोटे से हृदय-केन्द्र में अगाध-प्रेम-सागर उमड़ा कर 'गागर में सागर' भर दिया।

अहा ! जो तूती शून्यारण्य में चहकती थी, जिसके कुन्तल-कलाप को पन्नगी-परिवार समझ कर मयूर-माला अपनी चोंचों से धीरे-धीरे बखेरती थी, जिसके दिये हुए अनारदानों को चखने वाले शुक-शावक कुटी के पास वृक्ष-शाखाओं पर बैठ कर नित्य ही कलरव करते थे, जिसकी बोली सुनकर जंगली मैना भी अपनी बोली बिसार कर वैसी ही मिठी बोली बोलने का अभ्यास किया करती थी, जिसके फूलों से भरे अञ्चल में से बावले-उतावले भ्रमरों का झुण्ड निकल-निकल कर सुरभित-स्वास-समीर के लोभ से, घ्राण-रन्ध्र के पास टूट पड़ता था; वही तूती अब राज प्रासाद के मख़मली पर्दों में वृहद्दर्पणालंकृत विविध-चित्र विभूषित विलास-मन्दिरों में और खस की टट्टियों से जड़ी हुई बारहदरियों में बन्द रहने लगी। जो बिजली वन में तूती की शोभा निहार कर आरती उतारती जाती थी, अब वही बिजली खिड़कियों की राह से भी झाँकने नहीं पाती—तड़प-तड़प कर बाहर ही रह जाती है। वन्य वृक्ष लतादिकों को सींचने के समय

तूती के विधु बदन पर जो श्रम-स्वेद-कण परिलक्षित होते थे, उन्हें प्रकृति देवी अपनी पवनान्दोलित लतिका कन्यकाओं के पुण्यमय अञ्चलों से पोंछ लेती थी। अब उन्हीं कुण्डल-कलित कल कपोलों को शशिशेखर कुमार अपनी सुगन्ध-सिक्त रेशमी रूमालों से पोंछ कर उन्हें आँखों से लगा लेते हैं। जो हाथ झन्झावत के झोंके से इतस्ततः उलझी हुई लताओं को सुधारने में सधे थे, अब वे ही हाथ हारमोनियम और सितार पर सध गये।

संसार का सारा सौन्दर्य्य यदि प्रेम की सुगन्ध से शून्य हो जाय तो, ईश्वर ने अपने 'मनोरञ्जन' के लिये जो यह विश्व-महा-नाटक रचा है, उसका पहिला पर्दा कभी न उठे; सारा खेल मटियामेट हो जाय। प्रेम की सुगन्ध के बिना यह जीवन-कुसुम सौन्दर्य्य की थाली लेकर क्या करेगा ?

देखिये, जिन पर्वत-शिलाओं पर घास-पात का पर्दा पड़ा था, जिनका कलेवर काई से ढका रहता था, जिन पर चाँदनी भी आकाश से उतरकर घड़ी भर के लिये रंगरेलियाँ मचा जाती थी, वे ही शिलाएँ आज पहाड़ की चोटियों से उतर कर प्रेम-वश दृष्टि-उन्मेषिणी एवं लोचनानन्ददायिनी मूर्त्ति बनकर, देव-मन्दिरों में आ डटी हैं। अब उनका कलेवर प्रकृति की गोद में पले हुए फूलों से ढका हुआ नहीं है, बल्कि दूध की धाराओं से सींची हुई सङ्गमर्मरी क्यारियों में फूलने वाले फूलों के मोटे मोटे गजरे उन्हें पहनाये जाते हैं। काई के बदले अब हरे रङ्ग की ज़रीदार मख़मली पोशाक सुशोभित हो रही है। यही इस परिवर्त्तन शील संसार की विचित्रता है!

"मैना ! तू वनवासिनी, परी पींजरे आनि ।
जानि दैव गति ताहि में, रही शान्त सुख मानि ॥"

× × × ×

"कहें 'मीर' कवि नित्य, बोलती मधुरे बैना ।
तौ भी तुझको धन्य, बनी तू अजहुँ 'मै-ना' ॥"